

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182133

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Ref No. ^H83.1

Accession No. ^H2603

A82K

Author

अ० क० ३५ नं० १०५

Title

क० नं० १०५ नं० १०५

This book should be returned on or before the date last marked below.

**कहानी लेखिका
और
जेहलम के सात पुल**

यह अश्क की कहानियों का सातवाँ संग्रह है, जिसमें कहानियों के अतिरिक्त दो दर्द-भरे संस्मरण और एक मनोरंजक रेखा-चित्र भी शामिल है। लेखक ने अपनी उत्कृष्ट, किन्तु अप्रसिद्ध कहानियों पर एक बड़ा ही रोचक लेख भी इस संग्रह में दिया है।

‘पत्थर अल पत्थर’ जो इसी संग्रह की कहानी थी, बहुत लम्बी हो गयी। इसी कारण अब वह शीघ्र ही लघु-उपन्यास के रूप में अलग से प्रकाशित होगी।

कहानी-लेखिका और जेहलम के सात पुल

रूपेन्द्रनाथ अरक

आत्माराम एन्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
कायसीरा गेट, दिल्ली-६

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

यह अश्क की कहानियों का सातवाँ संग्रह है, जिसमें कहानियों के अतिरिक्त दो दर्द-भरे संस्मरण और एक मनोरंजक रेखा-चित्र भी शामिल है। लेखक ने अपनी उत्कृष्ट, किन्तु अप्रसिद्ध कहानियों पर एक बड़ा ही रोचक लेख भी इस संग्रह में दिया है।

‘पत्थर अल पत्थर’ जो इसी संग्रह की कहानी थी, बहुत लम्बी हो गयी। इसी कारण अब वह शीघ्र ही लघु-उपन्यास के रूप में अलग से प्रकाशित होगी।

कहानी-लेखिका और जेहलम के सात पुल

उपेन्द्रनाथ अरक

आत्माराम एन्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९५७

मूल्य : ३ रुपये पचास नये पैसे-

Checked 1969
Checked 1

प्रकाशक

उपासना प्रकाशन

इलाहाबाद

सोल-विक्रेता

नीलाभ प्रकाशन

५ खुसरो बाग रोड इलाहाबाद

मुद्रक

भार्गव प्रेस, प्रयाग

‘पत्थर-अल-पत्थर’ के हसनदीन के नाम

पहले विचार था कि काश्मीर सम्बन्धी सब कहानियों में इस संग्रह में दूँगा और उसे 'पत्थर-अल-पत्थर' कहानी के हसनदीन को समर्पित करूँगा। क्योंकि हसनदीन काश्मीर के किसानों, हांजियों और साईसों का प्रतीक है, लेकिन 'पत्थर-अल-पत्थर' ने बढ़कर लघु-उपन्यास का रूप ले लिया और मेरे प्रकाशक तथा मित्रों ने उसे अलग से छापने का परामर्श दिया और इस संग्रह को एक-रसता के दोष से बचाने के लिए कुछ दूसरी कहानियाँ देनी पड़ीं। तो भी अपने पहले निश्चय के अनुसार मैं इस संग्रह को हसनदीन ही के नाम समर्पित करता हूँ, जिसकी भूलक मैंने बार-बार काश्मीर में देखी।

मेरी अ-लोकप्रिय कहानियाँ

अपनी प्रिय कहानियों के बारे में जब भी मैं सोचता हूँ तो यह कष्ट-प्रद हकीकत अनायास मेरे सामने आ जाती है कि अपनी जो कहानियाँ मुझे पसन्द आयीं, वे कई बार उतनी लोकप्रिय नहीं हुईं । दूसरे शब्दों में यों कहूँ कि जिन कहानियों को मैंने बड़ी चाह से, बड़े मनोयोग से लिखा, वे मेरे मित्रों अथवा पाठकों को उसी मात्रा में रुचिकर नहीं लगीं । पाठकों की इस रुचि से झुँझलाकर अथवा योंही, जब मैंने नितांत उदासीन होकर एक या दो बैठकों में कोई कहानी धर-घसीटी तो मैंने सदा आश्चर्य से देखा कि वह बड़ी लोकप्रिय हुई और मित्र-शत्रुओं ने उसकी प्रशंसा की (इस बात के अपवाद हैं, पर अपवाद मेरी इस धारणा को पुष्ट ही करते हैं ।)

ऐसा क्यों है ! क्या मेरी ही रुचि विकृत है अथवा पाठक कहानी पढ़कर उसे समझने में ज़रा-सा भी श्रम स्वीकार नहीं करते और यदि कहानी का आधारभूत-विचार ज़रा सद्धम ढंग से रखा गया हो तो उसे पकड़ नहीं पाते ! जो भी हो, पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के साहित्यिक जीवन पर जब मैं दृष्टि डालता हूँ तो यह हकीकत और भी स्पष्ट होकर

मेरी अ-लोकप्रिय कहानियाँ

मेरे सामने आती है और कई ऐसी कहानियाँ आँखों में घूम जाती हैं, जिन्हें मैंने बड़ी चाह से लिखा, पर जो दूसरी कहानियों के मुकाबिले में कम लोकप्रिय हुईं ।

इसका सब से पहला एहसास मुझे १९३८ में हुआ जब मैंने 'अंकुर' लिखी ।

१९३८ से पहले मेरी कहानियों के दो-तीन दौर हो चुके थे । 'नौरत्न' छप चुका था, 'औरत की फ़ितरत' छप चुका था और काफी देर बाद छपने वाले कहानी संग्रह 'नासूर' की अधिकांश रोमानी कहानियाँ—केवल 'नासूर' को छोड़कर—लिखी जा चुकी थीं । 'पाषाण,' 'नन्हा,' 'पत्नीव्रत,' 'माँ,' 'सम्य-असम्य' और 'डाची' जैसी कई लोकप्रिय सामाजिक कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं । तभी मेरे मन में आया कि अपनी रविश से कुछ हटकर कहानियाँ लिखूँ । 'नौरत्न' * में कालेज के ज़माने की कच्ची कहानियाँ थीं, 'औरत की फ़ितरत' ‡ प्रेमचन्द और सुदर्शन के आदर्शी रंग में रंगी हुई कहानियों का संग्रह था । (प्रेमचन्द ने ही इसको भूमिका भी लिखी थी.) 'नासूर'† में काल्पनिक रोमान की कहानियाँ थीं, जिनकी कला पर मेरे

*नौरत्न की केवल एक कहानी हिन्दी में आयी है—चैन का अभिलाषी—(काले साहब)

‡औरत की फ़ितरत की केवल चार कहानियाँ 'पहेली' 'ताँगेवाला' 'मानव या दानव' और 'राजकुमार' हिन्दी में आयी हैं (जुदाई की शाम का गीत, बैंगन का पौधा)

†'नासूर' की अधिकांश कहानियाँ 'जुदाई की शाम का गीत' में हैं ।

कहानी लेखिका और जेहन्नाम के सात पुत्र

भिन्न 'अख्यात पत्रकार' का प्रभाव था और 'डाची' के बाद की कहानियाँ व्यक्तिगत दुःख से मिलने वाली ऐसी दृष्टि का प्रताप थीं जो यथार्थ को देखती तो है, पर भावुकता का पानी चढ़ाकर और मन हुआ कि यथार्थ में ज़रा गहरे उतर, भावुकता का छोड़, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखूँ ।

रुचि के इस परिवर्तन का एक कारण तो यह था कि जिस व्यक्तिगत दुःख की तीव्रता ने 'डाची' के कुछ पहले और कुछ बाद की सामाजिक कहानियाँ लिखायी थीं, वह समय के साथ हृदय में कहीं गहरे उतर, भावना के बदले विचार का अंग बन गया और जीवन की जो स्मृतियाँ, घटनाएँ और दृश्य पहले आँखों में आँसू लाते थे, अब ओठों पर मुस्कान लाने लगे—दूसरे उन्हीं दिनों मैंने गालज़बर्दी, तुर्गनेव तथा चैखव को पढ़ा, 'अख्यात पत्रकार' का जादू टूटा और केवल कथानक अथवा कला के चमत्कार से पूर्ण कहानियों के बदले जीवन की गहरी यथार्थता से भरपूर मनोवैज्ञानिक कहानियाँ अच्छी लगने लगीं । फिर पहली पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने कचहरी में जाने या कहीं नौकरी करने का विचार छोड़कर केवल साहित्य-सृजन को अपना शस्त्र बना लिया । समाचारपत्र की बारह से चौदह घंटे की नौकरी करता था तो केवल इतवार को लिखने का समय पाता था और अब सारा समय अपना था । पढ़ता था या लिखता था और कहानी को समाप्त करने की कोई वैसी जल्दी न रहती थी ।

पहली कहानी मैंने लिखी—'मनुष्य यह' ^१ । यह कहानी मेरी पहले की सभी कहानियों से भिन्न उतरी । कहानी का नायक परस राम

एक निम्न-मध्यवर्गीय युवक है। उसकी पत्नी मर जाती है तो प्रथा के अनुसार चौथे ही दिन लोग उसे तसल्ली देते हुए दूसरी शादी करके घर बसाने और बूढ़ी माँ का बोझ हल्का करने की सलाह देते हैं। उसकी बड़ी साली छोटी साली के लिए बात करती है। परस राम को वे सब क्रूर, हृदयहीन और निर्दयी लगते हैं, पर धीरे-धीरे उसका अपना मन कैसे बदल जाता है—बस इसी का चित्र उस कहानी में है, जिसका व्यंग्य आज भी मुझे भाता है।

यह कहानी तभी 'हंस' में छपी थी और काफ़ी पसन्द की गयी थी। प्रोत्साहन पाकर मैंने एक और कहानी लिखी—'अंकुर'।

'अंकुर' लिखने में मुझे कई महीने लग गये। अंकुर लिखनी शुरू की तो 'गोखरू' बन गयी, पर जो मैं लिखना चाहता था, वह उसमें न आ पाया। तीन-चार महीने बाद मैं 'अंकुर' लिखने में सफल हो गया। उस ज़माने में मैं एक मसौदा उर्दू में लिखता था, फिर उसे हिन्दी में करता था। कभी पहले हिन्दी में लिखता, फिर उर्दू में करता था। इस तरह कहानी का संशोधन-परिवर्धन भी हो जाता और वह दोनों भाषाओं में तैयार भी हो जाती थी। अन्तिम रूप में 'अंकुर' उर्दू में तैयार हुई। चूँकि 'अंकुर' का ठीक पर्यायवाची शब्द उर्दू में नहीं मिला, इसलिए नाम रखा 'कौपल' और उसे लाहौर की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'अदबी दुनिया' के वार्षिकांक में छपने को भेज दिया। कहानी सम्मान से छपी। सम्पादक 'अदबी दुनिया' से चूँकि मैंने उसके संकेतों और प्रतीकों का उल्लेख कर दिया था, इसलिए उन्होंने प्रशंसा भी खूब की, पर ज्योंही वह कहानी छपी, मित्रों में उस पर काफ़ी ले-दे हुई.....

कहानी की नायिका सेंकरी विपन्न ब्राह्मण परिवार की तेरह वर्षीय

ऐसी अबोध बाला है, जिसका विवाह अपने से पैंतीस-चालीस वर्ष बड़े एक बूढ़े पंडित से हो जाता है। वह अपने विवाह में चढ़ने वाले ढेरों गहने देख-पहनकर फूली नहीं समाती और यद्यपि अपने वृद्ध पति से उसे भय-सा आता है, पर जब वह नये नये कीमती गहने लाकर देता है तो वह प्रसन्न होती है। सेक्स-भावना और तज्जनित बेचैनी को वह नहीं समझती। तब इस बाला के हृदय में सेक्स का अंकुर कैसे फूटता है, यही इस कहानी का आधारभूत विषय है। कहानी के अन्त में जब उसका पति मर जाता है और उसकी माँ उसके सारे गहने अपने साथ ले जाने को कहती है तो अपने प्रिय गहनों से जुदा होने के पहले वह आधी रात में उठकर अन्दर कमरे में जाती है और अपने सब प्रिय गहने पहनकर देखती है। कंठी का हुक लगाते हुए उसे उस ब्राह्मण युवक की याद आ जाती है जिसने पाँच वर्ष पहले उसकी कंठी का हुक लगाया था और जिसकी अंगुलियों के स्पर्श ने उसके शरीर में मोठी-सी सिहरन पैदा कर दी थी और जिस युवक पर नाराज़ होकर उसके पति ने उसकी माँ को हटाकर दूसरी हंदे वाली लगा ली थी—इस घटना के बाद ही कहानी का अन्त है, जिसकी दो पंक्तियों में कहानी का व्यंग्य स्पष्ट हो जाता है—

—दूसरे दिन माँ चली गयी तो सेंकरी ने हंदा लेने वाली ब्राह्मणी राम रखी को हटाकर फिर परमेश्वरी को लगा लिया।

लेकिन जब इस अन्त पर मैंने दोबारा शौर किया तो इसे काट दिया। अब कहानी का अन्त यों हुआ—

—दूसरे दिन जब माँ वापस लाने लगी और अन्दर जाकर उसने सेंकरी से गहने माँगे तो वह टाल गयी।

‘टाल गयी’ इन शब्दों में कैसा सूक्ष्म संकेत निहित है, इसे साधारण

पाठक कहानी को सरसरी दृष्टि से पढ़कर नहीं जान पाता। यद्यपि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मतलब वही रहता है। केवल उसके बयान का पहना सा भोंडापन नहीं रहता। उस ज़माने में मैं, कृष्ण और बेदी एक दूसरे को अपनी कहानियाँ सुनाया और उनके बारे में वाद-विवाद किया करते थे। (कृष्ण और बेदी तो एक दूसरे को शायद ही सुनाते पर मेरे यहाँ दोनों आते थे और मैं भी उनके यहाँ जाता था।) कृष्ण ने वह कहानी 'अदबी दुनिया' में पढ़ी थी तो पसन्द की थी, पर जब मैंने उसे यह अन्त सुनाया तो उसने इस पर आपत्ति की। उसमें घंटों बहस हुई, पर उसका खयाल था कि पहला ही अन्त ठीक है, स्पष्ट है और पाठक को तत्काल समझ में आ जाता है।

मुझे कृष्ण की इस बात से बड़ी कोफ़्त हुई, क्योंकि मेरा निश्चित मत था कि पहला अन्त चाहे कहानी के आधारभूत उद्देश्य को स्पष्ट करता हो, पर भोंडा है, दूसरा वही काम सूक्ष्म ढंग से कर देता है।

'अंकुर' के बाद मैंने 'पिंजरा' लिखी। इरादा अन्त में वैसा ही सूक्ष्म संकेत देने का था, पर 'अंकुर' के अन्त का जो हथ-हुआ, उसे देखकर मैंने 'पिंजरा' में अपने मंतव्य को एकदम स्पष्ट कर दिया। शांति जो पत्र गोमती को लिखती है, उसी में पिंजरे की माहीयत का पता चल जाता है और शायद यही कारण है कि वह कहानी बड़ी लोकप्रिय हुई।

'पिंजरा' का अन्त मैंने बोधगम्य बना दिया, पर 'अंकुर' को वैसा ही रहने दिया। उसी अन्त के साथ वह मेरे उर्दू कहानी संग्रह 'कोपल' और हिन्दी कहानी संग्रह 'अंकुर' में छपी। सोचा मैंने— क्या ज़रूरी है कि अफ़साने को एकदम हल्का बनाकर रख दिया जाय कि पाठक आराम से उसे गटक जाय ! जो पाठक कहानी के नाम, उसमें दिये

संकेतों और उसके अन्त को मिलाकर देखने का प्रयास करेगा, वह ज़रूर ही उसके मंतव्य को पा जायगा, जो ऐसा न कर सके, उसे भगवान् सुमति दे !

लेकिन वर्षों बाद मुझे पता चला कि कृष्ण ठीक कहता था और सुमति की आवश्यकता पाठक को नहीं, लेखक को थी। लाहौर छोड़ने के बाद कई वर्ष तक दिल्ली और बम्बई की खाक छानते हुए मैं १९४८ में इलाहाबाद आ गया और मेरी पत्नी ने मेरी पुस्तकों के एक जगह से छपने की व्यवस्था की। 'अंकुर' अप्राप्य थी। सो उसकी कहानियों को फिर से छापना शुरू किया। कुछ रद्दो-बदल हुआ, विषय-वार कहानियों को छापने की योजना बनी और 'अंकुर' मेरे संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' के पल्ले पड़ी। उन्होंने दिनों एक युवक मित्र मेरे यहाँ आते थे। स्वयं बड़े अच्छे कहानी लेखक और नाटककार हैं। कभी-कभी प्रूफ पढ़ने में मेरी सहायता कर देते थे। उन्होंने मेरा हिन्दी कहानी संग्रह 'अंकुर' नया-नया पढ़ा था। 'उबाल' और 'भटके' की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। मैंने पूछा, "अंकुर कैसी लगी?" बोले, "पसन्द आयी, आपने गहनों के लिए सेंकरी की मुहब्बत खूब दिखायी है।" मैंने पूछा, "कहानी में अंकुर कहाँ है और शब्द 'टाल गयी' का आपने क्या मतलब लगाया", बोले, "अंकुर तो गहनों की मुहब्बत के लिए है और 'टाल गयी' का मतलब साफ़ है—उसने गहने रख लिये।"

मुझे बड़ी भुँभलाहट हुई। समझाया कि हुज़ूर गहने तो वह किसी के सामने पहन ही नहीं सकती। वह विधवा है, जिसकी चूड़ियाँ तोड़ दी गयी हैं और माँग का सेन्दूर पुँछ गया है और फिर क्या आपका खयाल है कि मैंने अनमिल विवाह का पुराना और सहस्रों बार का

मेरी अ-जोकप्रिय कहानियाँ

रौंदा हुआ विषय महज़ गहनों के लिए सेंकरी का प्रेम दिखाने को चुना और इतना सिर-दर्द मोल लिया ! कहानी सोलह आने यौन-समस्या को लेकर लिखी गयी है—बालिका सेंकरी गहने पसन्द करती है—सिर्फ़ गहनों के लिए, क्योंकि गाँव की दुल्हन के शरीर पर सबसे अहम चीज़ गहने होते हैं, जिसकी प्रशंसा होती है। किस को कितने गहने चढ़े, इसी से उसका वैभव आँका जाता है। बाला सेंकरी को जब उसकी शादी पर ढेरों गहने मिलते हैं तो वह फूली नहीं समाती। नहीं जानती गहनों का सुख कितना थाथा है। बाद में भी जब सेक्स सम्बन्धी बेचैनी उसके मन में जगती है तो गहने पाकर वह संतुष्ट हो जाती है। तभी ब्राह्मणी परमेशरी का लड़का माँ की बीमारी के कारण हंदा लेने आता है और अपने वृद्ध पति की ईर्ष्या उसके मन में प्यार का अंकुर पैदा कर देती है जो उसके पति की मृत्यु तक अच्छा खासा पौधा बन चुकता है। कहानी यह दिखाने के लिए लिखी गयी कि कैसे कोई स्त्री अपने पति के साथ रहकर भी यौन भावना की ठीक माहीयत समझने से कासिर रह सकती है। संकेत सूक्ष्म, पर स्पष्ट हैं। अंकुर उस यौन-भावना का अंकुर है जो ब्राह्मणी परमेशरी के लड़के को देखकर, उसकी अंगुलियों का स्पर्श पाकर (बल्कि अपने पति से शब्द 'आशनाई' सुनकर) सेंकरी के रौंदे हुए शरीर, पर कुँवारे हृदय में पैदा हो जाता है, पति की सख्ती और संदेहशीलता से बढ़ता है और जब उसका पति मरता है तो उसी वृक्ष की छाया का सुख लेने को वह गहने रख लेती है—क्योंकि गहने बाज़ार में बिक भी सकते हैं और उनसे रुपया प्राप्त कर मौज भी मनायी जा सकती है। और 'टाल गयी' में यह खूबी है कि शब्द बताते हैं, भोली-भाली सेंकरी, जो अपनी बेचैनी का मतलब तक न समझती थी, जो अपने अभाव को गहनों के बाहुल्य में भुलाया

करती थी, अब इतनी चतुर हो गयी है कि बहाने भी बनाने लगी है । उसकी सादालौही खत्म हो गयी है ।

यह सुनकर मित्र ने मुँह बा दिया । लेकिन मैं एकदम खीझ उठा । लगा कि जब एक कथाकार तक अफ़साने के मर्म को नहीं समझ सकता तो उसे लिखने से लाभ ! पुस्तक दोबारा छप तो रही थी, इस बार मैंने अपनी खीझ में अन्त को यों समझाकर लिखा :

—दूसरे दिन जब माँ वापस जाने लगी और अन्दर ले जाकर उसने सेंकरी से गहने माँगे तो वह एकदम टाल गयी । माँ ने बहुतेरी ऊँच-नीच दिखायी, पर सेंकरी टस-से-मस न हुई । गहने उसने न दिये । चोर-चकार का डर जो माँ ने दिखाया तो उसके प्रतिकार स्वरूप सेंकरी ने कहा कि वह परमेशरी ब्राह्मणी को अपने घर रखने की सोच रही है । उसका युवा लड़का है, जिसके रहते किसी प्रकार का भी डर न रहेगा ।

और आज ये पंक्तियाँ लिखते हुए मैं सोचता हूँ कि अपनी उस खीझ में मैंने कहानी के अन्त को और भोंडा बना दिया । इससे तो यही अच्छा होता कि वही पहला अन्त देता जो कृष्ण को पसन्द था ।

लेकिन उसके लिए अब पुस्तक के नये संस्करण तक बाट जोहनी पड़ेगी ।

अमृतसर से सोलह मील दूर एक जगह है—प्रीतनगर । १९४० में मैं वहीं काम करता था । यों तो सारा बरस अवकाश के समय मैं 'गिरती दीवारें' लिखता रहा, पर बीच में एक साथ मैंने तीन कहानियाँ लिखीं—'चट्टान', 'कालू', और 'बैंगन का पौधा' । 'चट्टान' पर मुझे बड़ी मेहनत करनी पड़ी । १५ फुलस्केप पृष्ठों की कहानी थी । छै बार मैंने उसे लिखा, तब मुझे सन्तोष हुआ कि जो मैं कहना चाहता था, कह पाया हूँ । बात यह है कि स्वामी

मेरी अ-खोकप्रिय कहानियाँ

रामकृष्ण परमहंस के प्रवचनों की एक पुस्तक मायावती अल्मोड़ा से छपी मुझे मिल गयी। एक मित्र थे जो उन दिनों उसके अनुमार योगसाधन में निरत थे और 'चट्टान' बने जा रहे थे, लेकिन उनकी संगिनी मुझे उस छोटे से पौधे सी लगी जो चट्टान की किसी सिलवट पर पड़ी हुई मिट्टी में जम जाता है, पर आगे जगह न पाने के कारण मुरझाकर पीला पड़ जाता है। मेरा ध्यान परमानन्द को पाने वाले योगी पर नहीं, उस कामिनी पर जाता था, जिसे तजकर योगी अपनी साधना में रत था। तब मैंने अपनी बात को कहानी के माध्यम से कहने की ठानी। पर मैं जो कहना चाहता था, कहानी के माध्यम से उसे कहना कठिन लगता था, कई तरह के अनावश्यक ब्योरे बीच में आ टपकते थे और मैं भुँकुला उठता था। आखिर जब छठी बार सारी-की-सारी कहानी लिखने और कम-से-कम २० पृष्ठ काले करने पर मुझे लगा कि मैं सफल हो गया हूँ तो मेरी खुशी का वार-पार न रहा। उसी हल्के मूड में मैंने दो और कहानियाँ लिख डालीं। 'कालू' पर तो कुछ मेहनत पड़ी, लेकिन 'बैंगन का पौधा' तो मैंने एक ही बैठक में लिख डाली।

उन दिनों हम 'अदबे लतीफ़' (लाहौर) के लिए लिखा करते थे। चौधरी नज़ीर, जो उसके प्रोप्राइटर भी थे और सम्पादक भी, हमारे साथ ही बढ़े थे। यों कहिए कि हम और वे साथ-साथ बढ़े थे। हमारी कृतियों पर उनका हक पहले रहता था। वे 'अदबे लतीफ़' का कोई विशेषांक निकाल रहे थे और खत पर-खत लिखकर जान ग्वाये हुए थे। दूसरे सम्पादकों की ओर से भी पत्र आये हुए थे। मैंने सोचा तीनों कहानियाँ लेकर लाहौर पहुँचूँ। पहली पसन्द नज़ीर की, शेष इधर-उधर दे दूँ। लेकिन नज़ीर से मिलने से पहले मैं बेदी (राजेन्द्र सिंह) से मिला। तीन नयी कहानियाँ लिखकर उसे सुनाने का लोभ कैसे सम्बरण होता ?

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

मैंने उसे तीनों कहानियाँ पढ़ने को दीं। मैं प्रतीक्षा में था कि 'चट्टान' ऐसी कहानी लिखने पर वह उठकर मुझ से हाथ मिलायेगा, लेकिन जब 'चट्टान' पढ़कर उसने बिना कुछ कहे दूसरी उठा ली तो मैं निराश भी हुआ और चकित भी। तीनों कहानियाँ पढ़कर बेदी ने 'बैंगन का पौधा' लिखने पर मुझे बधाई दी। उसकी कला और बात को कहने के ढंग की बड़ी प्रशंसा की। 'कालू' को उसने दूसरा और 'चट्टान' को तीसरा दर्जा दिया। मुझे बड़ी निराशा हुई। लाहौर आने का मेरा सारा उत्साह भंग हो गया। तब मैंने सोचा कि ज़रा कृष्ण की राय भी ले ली जाय। मैंने कृष्ण को तीनों कहानियाँ पढ़ने को दीं। उसने भी 'बैंगन का पौधा' की बड़ी तारीफ़ की और उस 'एकदम नये कला-प्रयोग' के लिए मुझे बधाई दी। घर आकर मैंने 'बैंगन का पौधा' फिर पढ़ी। मेरी समझ में ज़रा भी यह बात न आयी कि वह कैसे 'चट्टान' से श्रेष्ठ है। कृष्ण ने अपने मित्रों से 'बैंगन का पौधा' की बड़ी प्रशंसा की, जिस कारण वह कहानी उर्दू के दो-तीन 'बेहतरीन कहानियों' के संग्रहों में ली गयी, ये पंक्तियाँ लिखते समय 'नकूश' लाहौर का एक हज़ार पृष्ठों का अफ़साना नम्बर निकला है, जिसमें यही कहानी शामिल की गयी है, पर मुझे वह आज भी उतनी पसन्द नहीं जितनी 'चट्टान'।

इस किस्से का एक दिलचस्प पहलू भी है। मैंने नज़ीर को लिखा था कि मैं तीन कहानियाँ लाया हूँ। जो तुम्हें अच्छी लगे चुन लेना, शेष मैं अन्यत्र भेज दूँगा। जब मैं उसके पास कहानियाँ लेकर पहुँचा तो कृष्ण और बेदी अपना मत उसे दे चुके थे। वास्तव में नज़ीर की दुकान—'मकतबा-उर्दू'—न केवल हमारे प्रकाशक की दुकान थी, बल्कि उर्दू लेखकों की रादेबू (मिलन-स्थल) भी थी। दिन में

मेरी अ-बोकरप्रिय कहानियाँ

सभी साहित्यिक किसी-न-किसी समय वहाँ ज़रूर पहुँचते थे। मैं उस दिन साँभ को पहुँचा। काफ़ी देर से। तीनों कहानियाँ उसके सामने रख दीं, कृष्ण और बेदी का मत उसे बता दिया और कहा कि वह 'बैंगन का पौधा' रख ले। नज़ीर की यह आदत थी कि कहानी या नाटक वह सबसे अच्छा लेता था और पैसे सब से कम देता था। (और तो किसी को वह पैसे देता ही न था, मैं ही किसी न किसी तरह उससे झटक लेता था।) उसको मैंने मित्रों की राय बतायी तो उसने समझा कि मैं उसे ठग रहा हूँ। ज़रूर मैंने कृष्ण और बेदी के साथ मिलकर षड़यन्त्र किया है। अच्छी कहानी अन्यत्र भेज रहा हूँ और थर्ड रेट को फ़र्स्ट-रेट कहकर उसे जड़ रहा हूँ। सो उसने 'बैंगन का पौधा' और 'कालू' छोड़ कर 'चट्टान' रख ली और वही 'अदबे लतीफ़' के विशेषांक में छपी।

दो तीन पाठकों के अतिरिक्त मुझसे कभी किसी ने 'चट्टान' की तारीफ़ नहीं की, हालांकि आज भी मैं उसे अपनी बेहतरीन कहानियों में गिनता हूँ।

दिसम्बर १९४६ में मुझे यक्ष्मा हो गया। अप्रैल ४७ में मेरी पत्नी मुझे पंचगनी ले गयी और उसने मुझे सेनेटोरियम में दाखिल करा दिया। छै महीने तो मुझे कुछ ज़्यादा काम करने की इजाज़त न मिली और मैं कविता आदि करता रहा, पर जब छै महीने बाद सेनेटोरियम से बाहर एक बंगले में आ गया और मेरा स्वास्थ्य भी कुछ बेहतर हो गया तो मैं कहानियाँ लिखने लगा। विभाजन और फ़िसादों के दिन थे। मन बड़ा खिन्न था। मैंने एक कहानी 'टेबल लैंड' लिखी। मैं उसे अपनी बड़ी अच्छी कहानियों में गिनता हूँ, पर सिवा बलराज

साहनी और सुहेल अज़ीमाबादी के किसी ने उसकी प्रशंसा नहीं की। हाँ, एक दो पत्र ऐसे अवश्य आये जिनमें पूछा गया कि उसका नाम 'टेबल लैंड' क्यों रखा गया ?

कहानी ४७ के साम्प्रदायिक फ़िसादों से दूर पंचगनी के सेनेटोरियम और उसके बंगलों-मकानों में रहने वाले बीमारों की मनोदशा के सम्बन्ध में है। कैसे अच्छे-भले दीनानाथ का दिमाग़ पंजाब से आने वाली दर्दभरी ख़बरों को सुनकर ख़राब हो जाता है और वह, जिसे साम्प्रदायिकता छू भी न गयी थी, पंजाब में तबाह होने वाले हिन्दू शरणार्थियों के लिए कम्बल और रुपया-इकट्ठा करने निकल पड़ता है। रुपया इकट्ठा करते-करते उसे इस समस्या और उसके प्रभाव की ठीक माहीयत का पता चलता है और अन्त में वह इतनी मेहनत से इकट्ठा किया हुआ पाँच सौ रुपया पंजाब के हिन्दू शरणार्थियों को नहीं भेजता, वरन् दिल्ली से लुट-पिटकर आये एक बीमार मुसलमान बुजुर्ग का दे देता है।

पंचगनी में टेबल लैंड बड़ा सुन्दर स्थल है। रिंग रोड और उसके बंगलों के ऊपर ढलान पर उगे हुए सिलवर-ओक की फुनगियों के साथ एक काली चट्टानी दीवार चली गयी है। दरअसल यह दीवार नहीं, बल्कि पहाड़ के ऊपर मीलों तक फैले समतल मैदान (टेबल लैंड) का एक किनारा है। कहानी की मूल थीम से प्रकट उसका कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं देता। केवल अन्त में यह पंक्तियाँ आती हैं।

—आस-पास रुंड मुंड, सूखी गटियाली पहाड़ियाँ बिखरी हुई थीं और उनके मध्य अपनी समतल धरती और भव्यता को लिये हुए टेबल लैंड खड़ी थी.....

*** मेरी अ-बोकप्रिय कहानियाँ

और यों यह टेबल लैंड साम्प्रदायिक भावनाओं की ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों के मध्य मानवीयता की उस समतल भावना का प्रतीक बन जाती है जिसका उद्रेक अनायास ही उस यक्ष्मा के मारे कृशकाय मुसलमान बुजुर्ग की दुख-गाथा सुनकर दीनानाथ के हृदय में हो उठता है ।

पर इतनी बारीकी से किसी कहानी को पढ़ने का अभ्यास अभी न हमारे पाठकों को है, न आलोचकों को !

इसके बाद मैंने एक और गम्भीर कहानी लिखी— बच्चे—बड़ा सूक्ष्म सा उसका विचार है । मन के मुताबिक लिखने और बात कह सकने में मुझे बड़ी मेहनत पड़ी, पर आखिर अपने निकट, में पूरी तरह सफल हो गया । कहानी में एक बाप है. एक बच्चा और एक माँ । अपनी चिड़चिड़ाहट बीमारी और अकेलेपन में वह बाप बिलकुल बच्चे का-सा व्यवहार करता है । ऐसा वक्त भी आता है कि उसमें और बच्चे में अंतर नहीं रह जाता । उसकी बीबी याने उसके बच्चे की माँ इस तथ्य को बड़ी अच्छी तरह समझती है और जिस प्रकार अपने बाप से पिटकर रोंने वाले बच्चे को प्यार से सुला देती है, उसी तरह बच्चे का पीट करपश्चाताप में न सो पाने वाले अपने पति को स्नेह से थपककर वह सुला देती है । अन्तिम कुछ पंक्तियाँ यों हैं :

—बहुत धीरे से उनकी (श्री कोलार्कर की) पत्नी ने उनका सिर पुनः तकिये पर टिका दिया । बिना शब्द किये बिस्तर से उतरी, क्षण भर उन्हें सोये देखती रही, फिर दूसरे कमरे में जाकर उसने अनायास अपने सोये हुए बच्चे को चूम लिया ।

[प्रकट है कि वह पति को सुलाकर प्यार से उसे चूम लेना चाहती

है, पर जग न जाय, इस खयाल से उसके बदले जाकर अपने बच्चे को चूम लेती है ।]

इस अन्त से पहले कई सम्वादों में इस बात के बड़े सूक्ष्म संकेत हैं कि कोलार्कर की पत्नी अपने पति की चिड़चिड़ाहट और उकताहट को खूब समझती है । जब वह बच्चे को पीटता है तो यद्यपि आँखों की दो तलवारें वह उसकी ओर फेंकती है, पर अपार धैर्य से अपने पति के बचपने को क्षमा कर देती है और यद्यपि बच्चे का कोई दोष नहीं, पर उससे क्षमा माँगवाकर वह पति को शर्मसार कर देती है । वह उसे बीबी की श्रद्धा और माँ की ममता देती है — वह अपने पति को बिलकुल अपने बच्चे-सा समझती है और इसलिए अनायास कहानी के अन्त में उसके प्रति श्रद्धा हो आती है । क्योंकि पिता भी एकदम बच्चा बन जाता है और कहानी की नारी, जो बीबी भी है और माँ भी, इस तथ्य को पूरी तरह समझती है, इसलिए कहानी में एक ही बच्चा होने पर भी मैंने उसका शीर्षक दिया—बच्चे ! (5)

लेकिन यद्यपि मैंने कहानी में कई सूक्ष्म संकेत दिये, एक भी सम्पादक इस शीर्षक की माहीयत को नहीं समझ सका ।

‘एक भी सम्पादक’ मैंने इसलिए कहा कि इस कहानी को कई सम्पादकों ने अपने-अपने ढंग से पसन्द किया—पहले-पहल यह कहानी ‘अदबे लतीफ़’ लाहौर के वार्षिकांक में प्रकाशित हुई, कदाचित् उसी में, जिसमें ख्वाजा अहमद अब्बास का बदनाम अफ़साना ‘सरदार जी’ छपा । लेकिन शायद इसे कम लोगों ने पढ़ा । जिन्होंने पढ़ा, उन्होंने कदाचित् पसन्द नहीं किया । क्योंकि वार्षिकांक की प्रशंसा में जो पत्र सम्पादक ‘अदबे-लतीफ़’ को मिले, उनमें कहीं इसका उल्लेख नहीं ।

लेकिन इस पर भी यह कहानी ‘रूहे अदब’ नाम की एक पत्रिका

*** मेरी अन्धोकरिब कहानियाँ

में उद्धरित हुई जिसमें वर्ष भर की अच्छी कहानियाँ छपती थीं। दिलचस्प बात इतनी ही है कि 'रूहे-अदब' के सम्पादकों ने उसका शीर्षक 'बच्चे' ग़लत समझ कर, उसे 'बचपन' कर दिया।

हिन्दी में इसके प्रकाशन का किस्सा और भी दिलचस्प है।

आज से सात-आठ वर्ष पहले परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हुईं कि मैं 'माया' में लिखने को विवश हो गया—कुछ अपनी आर्थिक दशा के कारण और कुछ 'सरदार जी' लिखने के लिए अभ्यास पर (सरदार साहिबान के कोप को शान्त करने के लिए) यू० पी० सरकार की ओर से मामला चलाये जाने के सिलसिले में !

जहाँ तक 'माया' का सम्बन्ध है, १९४८ तक मैं उस 'हिन्दी की सबसे लोकप्रिय' पत्रिका, में कहानी न लिख सका था। जब मुझे एक कहानी के ५ रुपये मिलते थे तो उनका एक पत्र मिला था कि मैं कहानी भेजूँ। मैंने पाँच रुपये माँगे तो चुप लगा गये। फिर साल बाद उनका पत्र मिला कि वे कुछ पत्र-पुष्प अवश्य देंगे। पर तब मुझे दस रुपये मिलने लगे थे। मैंने वही बात लिख दी। वे फिर चुप लगा गये। लगभग एक साल भर बाद मुझे उनका फिर एक पत्र मिला कि वे दस रुपये देने को तैयार हैं, पर मुझे तब तक पन्द्रह रुपये मिलने लगे थे और माया ही के दफ्तर से मेरे एक मित्र को बारह रुपये मिले थे। सो मैंने पन्द्रह रुपये माँग भेजे। जब वे पन्द्रह देने को तैयार हुए तो मैं बीस-पच्चीस पाने लगा था....इसके बाद मैं बम्बई चला गया। मुझे उतनी ज़रूरत न रही। मेरी आर्थिक दशा बड़ी अच्छी हो गयी और माया वालों से किसी तरह का पत्र-व्यवहार न हुआ। मेरे इस हठ का एक कारण यह भी था कि यद्यपि हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र और यशपाल माया में बराबर लिखते थे, लेकिन इस पत्रिका

को साहित्यिक क्षेत्र में कभी संजोदगी से नहीं लिया गया और मेरे मन में कभी इसके प्रति श्रद्धा नहीं उमगी। 'अइबे लतीफ़' में मुफ़्त लिखना मैं स्वीकार कर लेता था, लेकिन किसी ऐसी पत्रिका में जिसका उद्देश्य महज़ पैसा कमाना हो, कम पारिश्रमिक लेकर लिखना मुझे कभी स्वीकार नहीं हुआ।

१९४८ में इधर मैं पंचगनी से अपेक्षाकृत स्वस्थ होकर इलाहाबाद पहुँचा, उधर अन्वास के खिलाफ़ 'सरदार जी' के सिलसिले में मामला शुरू हो गया। चूँकि वह कहानी 'माया' में प्रकाशित हुई थी, इसलिए माया वाले भी धर लिये गये। हमने डिफ़ेंस-कमेटी बनायी तो पहली ही सभा में मैंने उस व्यवहार का उल्लेख किया जो हिन्दी पत्रिकाओं के मालिक साहित्यिकों से करते हैं और उसी सिलसिले माया का भी ज़िक्र आया और बात-बात में मैंने अपने साथ होने वाले माया-सम्पादक के पत्र व्यवहार का भी उल्लेख किया। मुझे मालूम न था कि माया वाले भी वहीं बैठे हैं। बहरहाल, जब सभा समाप्त हुई तो वे मुझसे मिले। बोले कि अब वह ज़माना बीत गया है, माया की आर्थिक स्थिति अब अच्छी है और वह लेखकों को मुँह मॉंगा पारिश्रमिक देती है। मुझसे भी उन्होंने कहानी माँगी। मैं तो दो बरस की लम्बी बीमारी में अपना सब कुछ गँवाकर ही आया था। पैसे की मुझे बड़ी ज़रूरत थी। एक कहानी लिखी पढ़ी थी। वही मैंने पेश कर दी। उन्होंने तत्काल पैंतीस रुपये दे दिये। लेकिन तीस-पैंतीस रुपये तो हिन्दी में साधारण पत्रिकाएँ भी दे देती हैं। तत्काल मिल गये—इस हाथ दे उस हाथ ले के अनुसार—इसलिए मैंने कहानी दे दी। इसके बाद माया का वार्षिकांक निकलने वाला था। माया के सम्पादक ने विशेष रूप से उसके लिए लिखने को कहा और यह भी विश्वास दिलाया कि

●● मेरी स-ब्लोकप्रिय कहानियाँ

उसमें सब कहानियाँ उच्च कोटि की होंगी और रुपये वे चालीस दिलवा देंगे। मैंने 'बच्चे' को हिन्दी में तैयार कर दिया और लिखा कि रुपये ले आइए और कहानी ले जाइए।

सम्पादक महोदय रुपये ले आये और क्योंकि वे स्वयं अच्छे कहानीकार हैं इसलिए मैंने कहानी देते समय उन्हें सुना भी दी। उन्होंने कहानी सुनी तो बोले, "ज़रा टाप हैवी (Top heavy) है। पहला कुछ हिस्सा काट दिया जाय तो बेहतर होगा।" मैंने कहा, "आप बताइए क्या कट सकता है?"

बोले, "इस समय तो मैं नहीं बता सकता। दोबारा पढ़ूँ तो बताऊँ।"

हालांकि मुझे रुपयों की बड़ी ज़रूरत थी तो भी मैंने कहा कि कहानी यही तैयार है। आप रुपये ले जाइए, यदि कोई दूसरी लिखूँगा तो भेज दूँगा।

खाली हाथ वापस जाना उन्हें स्वीकार न हुआ। कहानी वे ले गये। मुझे अफ़सोस रहा कि मैंने क्यों वह कहानी उन्हें दे दी। 'नया समाज' में भेजता तो रुपये भी दस-ज़्यादा मिलते और कहानी भी अच्छी जगह छपती। फिर मुझे यह भी बुरा लग रहा था कि पैसे मैंने ले लिये और कहानी वह दी जो उन्हें पसन्द नहीं। सात-दस दिन में मैंने एक दूसरी, किंचित हल्की, हास्य-रस की कहानी लिखी—'लिरेंजाइटिस'। मित्रों को सुनायी तो सब ने उसे पसन्द किया। मैंने सम्पादक 'माया' को कार्ड लिखा कि एक दूसरी कहानी हो गयी है। चाहें तो ले जायँ। वे दूसरे ही दिन शाम को आये। कहानी सुनी तो बड़े प्रसन्न हुए। बोले, "यदि आप आशा दें तां हम इसे वार्षिकांक में दे दें। 'बच्चे' हम वापस नहीं करते, दूसरे अंक में छाप देंगे।"

'नया समाज' वालों को नाटक देने का वादा कर लिया था।

रुपये भी आ गये थे, इसलिए सोचा, उन्हें नाटक भेज दूँगा। सम्पादक माया चालीस रुपये साथ लाये थे। मैंने वे रुपये भी ले लिये और कहानी दे दी।

इसी बीच में अब्बास भी अपने मामले के सिलसिले में इलाहाबाद आ गये थे। और एज्यूकेशन एक्स्पेंशन आफ़ीसर श्री असदुल्लाह काज़िमी के यहाँ ठहरे थे। चूँकि पहले उनका इरादा मेरे यहाँ ठहरने का था, इसलिए उनकी डाक मेरे पते से ही आ रही थी। कुछ दिन बाद एक सुबह मैं उनका एक पत्र लेकर काज़िमी साहब के यहाँ गया तो वहीं मित्रा बाबू (माया के प्रोप्राइटर श्री मुस्तफ़ी मित्रा साहब) से भी भेंट हो गयी। बातों बातों में उन्होंने बताया कि वे वार्षिकांक में मेरी कहानी 'वात्सल्य' दे रहे हैं।

"वात्सल्य", मैंने हैरत से कहा, "वात्सल्य तो मेरी कहानी नहीं!"

"नहीं जी वह आपही की है," माया बाबू बोले और उन्होंने 'बच्चे' का कथानक सुना दिया। उन्होंने बताया कि संपादक ने उन्हें 'लिरेंजाइटिस' भी सुनायी थी, पर उन्हें 'वात्सल्य' ही अच्छी लगी और वही वार्षिकांक में जा रही है।

मैं बड़ा प्रसन्न हुआ कि आखिर कोई तो आदमी मिला जिसने मेरी उस कहानी को समझा।

लेकिन जब 'माया' का वार्षिकांक मिला तो देखा कि उस कहानी का शीर्षक सचमुच 'वात्सल्य' है। जब मित्रा बाबू ने कहानी का शीर्षक 'वात्सल्य' बताया था तो मैं समझा था कि वे शीर्षक भूल गये हैं और उन्होंने अपनी ओर से नाम बताकर मुझे समझा दिया है। लेकिन जब मैंने कहानी का नाम ही बदला हुआ पाया तो मुझे हँसी भी आयी और गुस्सा भी। मैंने सम्पादक महोदय को पत्र लिखा कि

*** मेरी अ-लोकप्रिय कहानियाँ

आप तो निश्चय ही कहानी नहीं समझे, पर आपने कहानी का नाम बदलकर यह भी प्रयास किया कि दूसरा भी कोई उसे न समझ पावे। उन्होंने जो उत्तर दिया वह इतना दिलचस्प था कि मैंने सम्हाल कर रख लिया। उनका दावा था कि जो नाम उन्होंने दिया वही ठीक था और जो भी पड़ेगा, यही शीर्षक देगा।

मैं उन दिनों रसूलाबाद में साहित्यकार-संसद के भवन में रहता था। एक इतवार भ्रामती महादेवी वर्मा, श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्री श्रीकृष्ण दास, ख्वाजा अहमद अब्बास, डाक्टर एजाज़ हुसेन, कवि वामिक जौनपुरी और अन्य मित्र मुझसे मिलने वहाँ आये। बातों-बातों में श्रीकृष्ण दास ने मेरी नयी कहानी 'वात्सल्य' की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखों में आँसू आ गये और जब उन्होंने कहानी अपनी श्रीमती जी को पढ़ने के लिए दी तो उनकी आँखें भी सजल हो गयीं। यह बात सुनकर सब ने मुझसे कहानी सुनाने का अनुरोध किया। मैंने उन्हें कहानी का किस्सा बताया और जब कहानी सुनावी तो सबने एक-मत होकर कहा कि कहानी का यही शीर्षक ठीक है। दूसरा कोई भी शीर्षक गलत होगा। वामिक ने यह भी परामर्श दिया कि मैं सम्पादकों को इस बदतमीज़ी की इजाज़त न दिया करूँ। लेकिन मुझमें मज़ाक की हिंस अभी तक क़ायम है और सम्पादकों के साथ मेरी सहानुभूति भी है। मुसीबत यह कि कुछेक को छोड़ कर हमारे अधिकांश सम्पादक पत्रकार चाहे कैसे भी तेज़ क्यों न हों, साहित्य के मर्म को समझने की सामर्थ्य वैसी नहीं रखते। आलोचकों की दशा उनसे भिन्न नहीं। फिर पाठकों का तो भगवान ही मालिक है। किस किस से सिर-फुटौबल की जाय।

किसी चीज़ को पसन्द कर लेना एक बात है, उसकी खूबियों को

समझ लेना बिलकुल दूसरी । कई मित्रों ने 'वात्सल्य' के शीर्षक से कहानी पसन्द की, लेकिन उनका ध्यान माँ पर रहा । कहानी का नाम 'बच्चे' क्यों रखा गया, जबकि कहानी में एक ही बच्चा है, इस बात पर ध्यान देना उन्होंने उचित नहीं समझा । इसीलिए वे दूसरी सूक्ष्मता को नहीं समझ पाये । वास्तव में अच्छी कहानियों की (उपन्यासों, नाटकों, कविताओं बल्कि साहित्य के अन्य अंगों की भी) यह ट्रेजेडी है कि साधारण आलोचक और पाठक के लिए कई बार उनके मर्म तक पहुँचना कठिन हो जाता है । किन्तु जिस प्रकार उत्कृष्ट कला-कृति अपने रचयिता से इस बात का तगादा करती है कि उसकी रचना में वह साधना और श्रम से काम ले, उसी प्रकार अपने पाठक और आलोचक से भी यह चाहती है कि वह 'काता और ले दौड़ी' के अनुसार सरसरी दृष्टि से उसे पढ़कर राय न दे, बल्कि यदि कहानी गम्भीर है तो उसे समझने में थोड़ी बहुत मेहनत भी करे । यहीं जासूसी कहानी या हल्की दिलचस्प सोशल कहानी या केवल दिलचस्प कहानी (कहानी में उपन्यास और नाटक शामिल हैं) और गम्भीर कहानी में अंतर हो जाता है ।

'बच्चे' के बाद मैंने फिर वैसी गम्भीर कहानी नहीं लिखी और हल्के फुल्के हास्य-व्यंग्य के अफसाने लिखता रहा । फिर उनसे ऊँचकर नाटक और उपन्यास लिखने लगा । लगभग छे वर्ष मैंने एक भी कहानी नहीं लिखी, लेकिन पिछले वर्ष में काश्मीर गया, वहाँ तीन महीने रहा और डेढ़ महीना खूब घूरा-फिरकर जो आराम करने बैठा तो मैंने तीन कहानियाँ लिखीं ! 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल,' 'पत्थर-अलपत्थर' (लघु उपन्यास) और 'दालिये' और इस बार फिर १९४० वाली बात की आवृत्ति हुई । मैं पहली कहानी को बहुत

*** मेरी अ-लोकप्रिय कहानियाँ

अच्छी और तीसरी का 'बस कुछ योंही सी' समझता था। थीम उसकी पसन्द थी, पर उतनी नहीं जितनी पहली कहानी की। एक-दो बैठकों में लिखी और टाइप होने पर रिवाइज़ तक न की। तीनों कहानियों छपीं तो पाया कि यही सबसे ज़्यादा पसन्द की गयी और पहली बड़ी आलोचना का विषय बनी।

'पत्थर-अलपत्थर' और 'दालिये' वास्तव में सीधी, सरल कहानियाँ हैं। उनमें न कहीं घुमाव-फिराव है, न अस्पष्टता। आधारभूत-विचार भी दोनों का अमूर्त (Abstract) नहीं और उन्हें समझने में कठिनाई नहीं होती। 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' का आधारभूत विचार अमूर्त है, उसे कहानी में रखा भी सूक्ष्मता से गया है, इसलिए पाठक को कठिनाई होती है। यह कहानी, जिसे मैं अपनी इधर की सब कहानियों से अच्छी समझता हूँ, 'कहानी' इलाहाबाद के १९५५ के विशेषांक में छपी और कई महीने बाद तक परस्पर-विरोधी विचार इस पर आते रहे। 'नयी दुनिया' इन्दौर के सम्पादक ने उसकी कला की प्रशंसा की और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उसके आधारभूत विचार को सराहा। इसके विपरीत शिवदान सिंह चौहान ने इसे एकदम प्रकृतवादी घोषित कर दिया और फ़तवा दिया कि इसमें अनावश्यक विस्तार बहुत है और कहानी एकदम आधी होनी चाहिए थी। इसी बात को दो एक दूसरे सम्पादकों ने भी दोहरा दिया। और हालांकि रेडियो सीलोन है किसी काश्मीरी कर्मचारी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और मुझे एक लम्बा पत्र बम्बई से लिखा कि उन्हें कहानी बड़ी पसन्द आयी और परदेस में इस कहानी ने जैसे श्रीनगर का जीवन उनके सामने ला रखा, पर इलाहाबाद के मित्रों ने अधिकांशतः उसे पसन्द

नहीं किया। श्री भारतभूषण अग्रवाल की शिकायत थी कि उन्हें कहानी समझ में नहीं आयी।

मैंने पूछा “आप पढ़ते गये।” बोले, “पढ़ तो गया, रात को बारह बजे स्टूडियो से वापस आया तो सोने से पहले योही अवलोकनार्थ मैंने उसे उठाया, पढ़कर ही सोया, पर, आप क्षमा करें, मैं समझ नहीं पाया।”

और यह शिकायत उनकी ही नहीं, सत्येन्द्र शर्मा की भी थी।

मुझे बड़ा खेद हुआ। वास्तव में कहानी का नाम भ्रम में डाल देता है और पाठक उसके आधारभूत-विचार को नहीं पकड़ पाता। नाम को पढ़कर पाठक सोचता है कि कहानी मैंने श्रीनगर में बहते हुए जेहलम के दोनों किनारों का प्राकृतिक चित्र देने के लिए लिखी है। वास्तव में यह बात सत्य से बहुत दूर है। कहानी का आधारभूत-विचार बड़ा सूक्ष्म है और ध्यान से पढ़े बिना हाथ नहीं आता।

कहानी एक बुजुर्ग कहानी लेखिका की है जिसके मूढ़ उसके आमाशय और असफल घरेलू-जीवन है अधीन हैं। एक दिन जब उसका मेदा अपेक्षाकृत ठीक और इसीलिए उसका मूढ़ भी अच्छा और उसका पति भी खुश होता है, वह अपने पति और बच्चे के साथ जेहलम के सात पुलों की सैर को जाती है। चूँकि वे देर से चले थे, इसलिए शाह हमदान के मकबरे तक पहुँचते पहुँचते उन्हें देर हो जाती है और वे वापस आ जाते हैं। इसी बीच मैं अपने दस वर्षीय बच्चे की चंचलता के कारण उसके मन में एक बड़ी सुन्दर कहानी की थीम आती है। रात को यह थीम वह अपने पति को सुनाती है। थीम यों है—

‘एक युवती अपने पति और बच्चे के साथ जेहलम के सात पुलों की सैर को जाती है। बच्चा बड़ा चंचल है। आराम से किशती के

नम पर नहीं बैठता—कभी चप्पू चलाता है, कभी तैरती बतखों को पकड़ता है, कभी किनारे खेलते हुए लड़कों से मज़ाक करता है। माँ आस-पास के बदलते दृश्यों का आनन्द पूरी तरह नहीं उठा पाती। दिल उसका धड़कता रहता है। बच्चे की मुरझाती चिन्ता ठीक से उसे कुछ देखने नहीं देती, लेकिन अन्त में जब एक बार वह शिकारे के नम पर खड़ा हो जाता है और इसी स्नेह भरी चिन्ता के कारण वह भयभीत होकर चिल्लाता है तो बच्चा डरकर जेहलम में गिर जाता है।'

कहानी लेखिका इस कहानी में माँ की अपार ममता को दिखाना चाहती थी। उसे खेद था कि उसने सात पुलों के नोट्स नहीं लिये, लिये होते तो वह बड़ी सुन्दर कहानी लिखती। पति उससे वादा करता है कि दूसरे दिन फिर उसे सातों पुल दिखाने ले चलेगा और यह कहकर वह खर्राटे लेने लगता है।

लेकिन दूसरे दिन न कहानी लेखिका का मेवा ठीक है न मूड। पति अपने कारोबारी प्लान की नाकामी पर सख्त झुंझलाये होते हैं। बच्चा नेहरू पार्क देखना चाहता है, पति सोना चाहता है और इसी चिढ़ेचिढ़े असमंजस में जब पति अपनी पत्नी को सात पुल दिखाने का फैसला करता है तो कहानी लेखिका का सिर सख्त दर्द कर रहा होता है और तबीयत बेहद चिढ़चिड़ी होती है, लेकिन कहानी के लिए नोट्स लेने के मोह में वह चल पड़ती है। पति क्योंकि खुश नहीं, इसलिए, एक-एक शिकारे वाले से किराये के लिए बहस करता है। आखिर जिस सैर का सरकारी रेट साढ़े तीन रुपये है, उसके लिए दो रुपये पर एक शिकारे वाले को राजी कर लेता है। कहानी लेखिका पुराने शिकारे पर जाना चाहती है, पर पति नहीं सुनता। थकी, चिढ़ी, सिर दर्द लिये

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

वह शिकारे पर जा बैठती है। पति सो जाता है, लड़का तंग करता है, गरिष्ठ भोजन सीने को जलाता है और सिर फटा जाता है। रह-रहकर वह बच्चे और शिकारे वाले पर झुल्लाती है।

अब जेहलम के किनारों की ज़िन्दगी का बयान शुरू होता है। ज़िन्दगी—जिसका उल्लेख लेखिका की उस कहानी में निश्चय ही होना चाहिए था—वही जाती है, लेकिन कहानी लेखिका अख़्त बंद किये लेटी रहती है। अपने दिमाग में उसने एक काल्पनिक ढाँचा बना रखा है। बाज़ारों के नोट्स वह लेना चाहती है। शिकारे वाले को वह बाज़ार दिखाने का आदेश देती है। वह समझता है, मेम साहब कुछ खरीद करना चाहती हैं। वह उन्हें किनारे पर बना दुकानों में ले जाता है। कहानी लेखिका झुल्लाती है—“दुकानें तो बाँध पर भी हैं। मैं बाज़ार देखना चाहती हूँ।” वह चिल्लाती है, “मुझे कहानी के लिए नोट्स लेने हैं!” शिकारे वाला उसकी बात नहीं समझता, क्योंकि बाज़ार तो वहाँ एक ही है जो पाँच पुलों तक चला गया है। वह समझता है कि पैसंजर कुछ बढ़िया सामान खरीदेंगे, वह क्या जाने कि नोट्स क्या होते हैं। वह उन्हें एक दूसरे कारखाने में ले जाता है, जहाँ कारीगर लकड़ी का सामान बना रहे हैं, उसका पति समझता है उसकी बीबी यहाँ जरूर नोट्स लेगी, पर वहाँ इतना धुआँ है कि वह अपने पति का हाथ खींचकर वापस ले आती है। आखिर शिकारे वाला उन्हें छोटा सा बाज़ार दिखाने ले जाता है, पर वहाँ कहानी लेखिका अपने पति और बच्चे के व्यवहार से बेहद चिढ़ जाती और अन्त में उसका मिज़ाज इतना बिगड़ जाता है कि जब वापसी पर उसका बच्चा किनारे पर के बच्चों को मारने के लिए किशती के नम पर

खड़ा होकर चप्पू उठाता है तो क्रोध से पागल होकर वह उसके ऐसी लात जमाती है कि बच्चा नदी में गिर जाता है ।

मेरे एक कहानी लेखक मित्र ने यह कहा कि प्लाट पहले ही बता दिया गया तो फिर वही अन्त करना कैसे ठीक है ? उन्होंने निश्चय ही कहानी ध्यान से नहीं पढ़ी । अन्त वही है, यह ठीक, पर वैसे नहीं है और इसी में कहानी का व्यंग्य निहित है । कहानी लेखिका की कल्पना और यथार्थ जीवन में कितना अंतर है ?—बच्चा माँ की ममता भरी चिन्ता के कारण नहीं, उसकी ज़बरदस्त चिड़चिड़ाहट के कारण नदी में गिरता है । इसके अतिरिक्त कहानी में काश्मीर की सैर को जाने वाले लोगों और वहाँ के मज़दूरों के दृष्टिकोण का अंतर दिखाया गया है । वहाँ की ज़िन्दगी दिखायी गयी है, जिसकी ओर दर्शक ध्यान नहीं देता और काल्पनिक सुन्दरता की खोज में भटकता रहता है । चलते-चलते कारोबारी पति के मनोविज्ञान का दिग्दर्शन भी हो गया है और बुर्जुआ लेखिका का भी जो शिकारे वाले पर बार-बार बरसती है, अंग्रेज़ी में गालियाँ देती है और यह नहीं सोचती कि उसे साढ़े तीन के बदले केवल दो रुपये पर इस लम्बी सैर को लाया गया है और उसे उम्मीद नहीं कि वे लोग बखशीश देंगे । इसीलिए उसके काम में वैसी तत्परता नहीं हो सकती । लेकिन जब कहानी लेखिका का बच्चा गिर जाता है तो वही शिकारे वाला, जिले वह गालियाँ देती रही है और जो उसकी अंग्रेज़ी गालियाँ समझता रहा है, उसके बच्चे को निकाल लाता है ।

और यों यह कहानी एक साथ कितनी ही बातों पर रोशनी डालती है । कुछ बातें जिनकी ओर मैंने सचेत रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहा है निम्नलिखित हैं :

*** कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

● काल्पनिक कहानियों और यथार्थ जीवन से अनुप्राणित कहानियों के लिखे जाने के Process में अंतर है। आधारभूत-विचार की काल्पनिकता के साथ ही उसके लिखने का प्रॉसिस बदल जाता है। कहानी लेखिका ने जो कहानी सोची थी, चूँकि यथार्थ जीवन से उसका वास्ता नहीं था, इसलिए जब वह उसके लिए ब्योरे दूढ़ती है तो उन सब व्योरों का अनदेखा कर जाती है, जिसे यथार्थवादी लेखक अपनी कहानी में रखना कभी न भूलता।

फिर यथार्थवादी लेखक यदि उसी थीम पर कहानी लिखता तो उसका अन्त वैसे ही होता जैसे कि अब कहानी में हुआ।

लेकिन यह कहानी उस आधारभूत-विचार पर नहीं लिखी गयी एक कला की पुजारिन बुर्जुआ कहानी लेखिका के कहानी लिखने के प्रॉसिस पर लिखी गयी है जिसमें उसकी काल्पनिक ममता और यथार्थ वस्तुस्थिति में अंतर दिखाया गया है।

● काश्मीर के विजेटरों और वहाँ के मज़दूरों के दृष्टिकोण और व्यवहार का अंतर भी कहानी में देखने को मिलता है।

● काश्मीर की अनुपम सुन्दरता, उसकी घोर गरीबी और उसका बदलता वातावरण ! एक ओर नन्हीं सी बालिका है जो पुराने माहौल की प्रतीक है—कहानी लेखिका को देखकर, अज़ारबन्द हाथ में थामे ही दूसरे हाथ से सलाम करती है, दूसरी ओर मल्लाह का भाई है जा अपने अधिकारों को समझने वाले भविष्य के विद्रोही मज़दूर का प्रतीक है।

● फिर कहानी लेखिका और उसके कारोबारी पति की अनमिलता का चित्रण है। कहानी लेखिका के मिज़ाज का चिड़चिड़ापन उसी का परिणाम है।

मेरी अ-बोकरप्रिय कहानियाँ

कहानी में ये सभी बातें पूरी तरह उजागर हैं। चूँकि ये और कुछ दूसरी बातें एक ही कहानी के माध्यम से कही गयी हैं और कहानी की पुरानी तैकिनक को (जो घटना अथवा आधारभूत-विचार की इकाई की माँग करती है) छोड़कर कही गयी हैं, इसलिए उसके उद्देश्य के बारे में भ्रम हो जाता है, लेकिन यह क्या ज़रूरी है कि कोई कहानी एक ही थीम को लेकर चले और इधर-उधर न भटके ! तो भी यदि कहानी लेखिका की अपनी वैवाहिक ट्रेजेडी, उसकी कल्पना की उड़ान, उसके कहानी लिखने के प्रॉसिस और उसके अपने यथार्थ जीवन पर दृष्टि रखी जाय तो कहानी का उद्देश्य समझने में कठिनाई न होगी।

वह्रहाल यह मेरी आज तक की लिखी कहानियों में अन्तिम कहानी है, जो मुझे बड़ी पसन्द है, पर जो लोकप्रिय नहीं हुई।

अनमने भाव से लिखी, हल्की कहानियाँ जब बड़ी पसन्द की जाती हैं तो मन हतोत्साह हो जाता है और मैं कहानी लिखना छोड़ देता हूँ या हल्की-फुल्की कहानियाँ लिखता हूँ। लेकिन मुझे यह मानने में संकोच नहीं कि मुझे ऐसी कहानियाँ पसन्द हैं और उनकी सम्भावित अलोकप्रियता के बावजूद मैं उन्हें लिखने का लाभ सम्बरण नहीं कर सकता।

दालिये

पहलगाँव की सुबह पिछले दिन से कुछ और सुन्दर और आकर्षक छवि लिये हुए उदय हुई थी। सामने के पहाड़ की हिम-मंडित चोटियों पर सफ़ेद बादल लहरा रहे थे। भिनसारे में पत्थरों से टकराकर फेनोच्छ्वास छोड़ता हुआ लिहर और उसके किनारे-किनारे बसे अनगिनत छोटे-बड़े ख़ैमों की दुनिया बड़ी ही भली लग रही थी। छड़ी उठाकर मैं लिहर की सैर को चल दिया।

होटल से चन्द की कदम दूर गया हूँगा कि किसी ने पीछे से मेरे कंधे पर हाथ रखा। मैं चौंकर मुड़ा, “अरे, चोपड़ा साहब! कब आये?”

“हम तो सात दिन से आये हुए हैं, आर्टिस्ट साहब, आप कब आये?”

“मैं तो परसों आया हूँ, बहुत थक गया था, इसलिए कल आराम करता रहा। आज सोचा, ज़रा निकट से लिहर के दर्शन करते आयें।”

“क्या बात है लिहर की!” चोपड़ा साहब ने सामने पत्थरों पर

दालिये

शोर मचाते, भाग उड़ाते, अपने पानी के ज़हरमोहरा रंग को फेनोच्छ्वासों से हल्के हौलदली रंग में बदलते हुए लिहर को देखकर कहा, “यह न हो तो पहलगाँव में क्या रखा है ! हम तो भाई लिहर में नहाते हैं, यहीं कपड़े धोते हैं, यहीं दोपहर गुज़ारते हैं ।”

“कब तक रहने का इरादा है ?”

“अरे आर्टिस्ट साहब, आये तो हम दो-तीन दिन रहने के खयाल ही से थे, पर ये भाई साहब जाने ही नहीं देते ।”....और सहसा पलटकर उन्होंने अपने साथ वाले आदमी को मेरा परिचय दिया—
“आप इन्हें नहीं जानते ?” वे मेरी ओर संकेत करते हुए बोले, “दिल्ली के बड़े प्रसिद्ध आर्टिस्ट हैं, इनकी तस्वीरें तो राष्ट्रपति-भवन में होनी चाहिएँ, लेकिन इन्हें इसकी चिन्ता ही नहीं, बस बनाते हैं और दोस्तों को बाँट देते हैं । लेकिन समझ लीजिए, जिनके पास इनकी एक-एक तस्वीर है, हज़ारों रुपयों की दौलत उनके पास है ।”

उन भाई साहब ने नमस्कार किया । विवश मैंने भी खीसें निपोर दीं । फिर मुझे उनका परिचय देते हुए चोपड़ा साहब बोले, “और ये हैं हमारे भाई साहब, यहाँ विज़िटर्स-ब्यूरो में काम करते हैं, बड़े सज्जन पुरुष हैं । इन्हीं के घर में हम टिके हुए हैं । हमें मालूम ही नहीं हुआ कि हम पराये घर में हैं ।”

मैंने उन्हें नमस्कार किया । अबके उन्होंने खीसें निपोर दीं ।

“आप कहाँ ठहरे हैं ?” क्रदम बढ़ाते हुए चोपड़ा साहब ने मुझसे पूछा ।

“मैं इसी होटल के तीन नम्बर के कमरे में हूँ ।” मैंने मुड़कर सामने होटल की ओर इशारा करते हुए कहा ।

“आप टेण्ट क्यों नहीं लगा लेते ?” भाई साहब बोले ।

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

“मैं कुछ ही दिन के लिए आया हूँ, नौकर साथ नहीं लाया, इसलिए होटल में टिक गया हूँ।”

“अच्छा चोपड़ा साहब, आपको तो साथी मिल गये।” भाई साहब ने चोपड़ा के कंधे को थपथपाते हुए कहा, “मैं चलूँ, मुझे तैयार होकर दफ्तर पहुँचना है, आप इनके साथ लिद्दर की सैर कर आइए ?” और फिर मुझसे बोले, “आपसे मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मुझे भी कुछ ब्रश-अश चलाने का शौक है। मैं अपनी दो-चार तस्वीरें आपको दिखाना चाहता हूँ, यदि समय दें तो....”

“ज़रूर लाइए।”

और वे हाथ जोड़कर चले गये।

“कहिए भाई साहब, कैसा लगा आपको पहलगाँव !”

मिसेज़ चोपड़ा पीछे-पीछे आ रही थीं। उन साहब के जाते ही आगे बढ़ आयीं। मैंने उन्हें नमस्कार किया और कहा—“मैं तो अभी आया हूँ, आपको कैसा लगा, कहाँ-कहाँ हो आयीं ?”

दस बरस की बच्ची फुदककर आगे आ गयी और उसने मेरी उँगली पकड़ ली। मैंने उसके गाल पर चुटकी भरी और प्यार करते हुए पूछा, “कहो मुन्नी, कहाँ-कहाँ घूमीं श्रीनगर में ?”

लड़की लज्जा से दोहरी हो गयी।

“घूमते कहाँ, भल्ला साहब ने जान आफ़त में कर दी।”

“अरे, कहाँ हैं गोप साहब, वे नहीं आये पहलगाँव ?”

“आये थे, दो दिन रहकर चले गये।”

भल्ला साहब के ज़िक्र से मेरे सामने पठानकोट से श्रीनगर तक बस का सफ़र, बस के साथी और उनमें सबसे ज़्यादा भल्ला साहब का

भारी-भरकम देह, उनकी बीवी, उनकी साली और उनके बच्चों की शकलें घूम गयीं ।

बस में पहली, दूसरी और तीसरी सीट पर मेरा बच्चा, मेरी बीवी और मैं बैठा था । हमारे बराबर चोपड़ा साहब और उनकी बीवी थीं । चोपड़ा साहब के पीछे भल्ला साहब और उनकी बीवी, दोनों एक-एक बच्ची को गोद में लिये बैठे थे, हमारे पीछे भल्ला साहब की साली और चोपड़ा साहब की यही बच्ची बैठी थी । भल्ला साहब के पीछे दिल्ली के एक व्यापारी अपनी भतीजी के साथ विराजमान थे, जिसे हमने भ्रमवश बुढ़ापे में ब्याही उनकी पत्नी समझा था । बस में दूसरे भी लोग थे, पर यही सवारियाँ थीं, जिन्होंने हमारा ध्यान खींचा और जिनसे बाद में मेल-मुलाकात हुई । इनमें भी भल्ला साहब सबसे अग्रिम थे ।

उनकी ओर शायद हमारा ध्यान कभी न जाता, यदि उनकी साली हमारे पीछे न बैठी होती, उनकी बच्चियाँ अपनी ममी और डैडी को छोड़कर अपनी आंटी के पास न आ जातीं, मेरी आँखों में ज़बरदस्त मनोदग्गी न छाया होती और भल्ला साहब की बच्चियाँ लता मंगेशकर के पद-चिन्हों पर चलते हुए एक-दूसरे को मात देने पर न तुली होती ।

उनमें से एक की उमर चार और दूसरी की पाँच-छः बरस की थी, लेकिन भल्ला साहब ने उनके लिए कोई टिकट न लिया था । और दोनों मियाँ-बीवी उन्हें गोद में बैठाये थे । मेरी सीटें रिज़र्व थीं । दो दिन पठानकोट ही में एक मित्र ने रोक लिया था । सामान आदि उनके नौकर तुला-रखा गये थे । नाश्ते में देर हो गयी, बस चलने के पाँच मिनट पहले हम पहुँचे । जब बस चली और मैंने भल्ला साहब

को कष्ट से बैठे देखा तो मैंने परामर्श दिया कि वे एक बच्ची को मेरे लड़के के साथ अगली सीट पर बैठा दें और दूसरी को मेरी पिछली सीट पर उसकी अनो मौसी के पास बैठा दें। चोपड़ा साहब ने भी ऊपरी मन से कहा कि “हाँ-हाँ, मेरी बच्ची बैठी है, उसके साथ एक को बैठा दीजिए!” लेकिन भल्ला साहब ने सिर हिलाया—“नहीं जी, ये किसी और के पास बैठती ही नहीं, हमारे साथ ही चिमटी रहती हैं।” वे बोले और यह कहते हुए उन्होंने एक बार कण्डक्टर की ओर देखा.... लेकिन बस अभी थोड़ी ही दूर चली होगी कि दोनों मेरी गर्दन के पीछे अपनी आंटी के पास आ गयीं। उनकी यह आंटी यानी भल्ला साहब की साली कहने को बी० ए० थीं, लेकिन आवाज़ या पहरावे, किसी से भी इस बात का सबूत न मिलता था। उनके स्वर में कुछ अजीब-सी अनगढ़ सानुनासिकता थी। हमारी पीठ के पीछे वे लगातार कुछ-न-कुछ प्रवचन देती जा रही थीं। फिर जो बात मुझे बुरी लगती, वह यह थी कि जब खिड़की में धूप आ जाती तो वे चोपड़ा साहब की बच्ची को खिड़की में कर देतीं और स्वयं उसकी जगह हो जातीं और जब-जब पहाड़ की ओट के कारण छाया हो जाती तो उसे हटाकर फिर खिड़की में हो बैठतीं और रास्ते के बदलते नज़ारों, सड़क के दिलचस्प मोड़ों, उभरती चोटियों और बहती नदियों पर लगातार ‘रनिंग-कमेण्ट्री’ देती जातीं। हालांकि पठानकोटी मित्र ने हमारे आराम के लिए कोई कोर-कसर न उठा रखी थी, लेकिन कुछ परायी जगह और कुछ गर्मी के कारण मुझे नींद न आयी थी। आँखें बेतरह बन्द हुई जा रही थीं, लेकिन वे देवी जी थीं कि उनकी कमेण्ट्री बन्द ही न होती थी। तभी भल्ला साहब की बच्चियाँ भी उनके पास आ गयीं। लेकिन उनमें से किसी को अपने पास बैठाकर अपनी जगह तंग करने के बदले उन्होंने एक को खिड़की

के साथ खड़ा कर दिया और दूसरी को मेरे पीछे खड़ा कर दिया कि सामने से बाहर का नज़ारा देख सके ।

क्षण-भर तो वे कन्याएँ चुपचाप बाहर देखती रहीं, फिर अचानक उनमें से एक बड़े भोंडे मोटे स्वर में गाने लगी—

तू मेरा चाँद मैं तेरी चाँदनी

और दूसरी ने बाहर देखते-देखते तुतली आवाज़ में लुकमा दिया—

नहीं दिल का लगाना कोई दिल्लगी, कोई दिल्लगी

कुछ देर दोनों यही गाती रहीं, फिर अचानक पहली चिल्लायी (लेकिन गाते हुए), ‘वह छोटी मोटर आती है....वह छोटी मोटर आती है....।’

मैं एक बार जागा कि लड़की के सिर पर एक चपत दूँ । लेकिन मोटर शायद किसी मोड़ में ओभल हो गयी और लड़की चुप हो गयी । मैंने सिर फिर अपनी बीबी के कंधे से लगा लिया और ऊँच गया ।

लेकिन तब शायद दूसरी को कहीं सड़क कूटने वाला इंजन चलता दिखायी दे गया और वह गाने लगी—‘वह मोटा इंजन चलता है....वह मोटा इंजन चलता है....वह मोटा इंजन चलता है....’

और शायद मोड़ पर मोटर भी निकल आयी और छोटी लड़की ताली बजाने लगी—‘वह छोटी मोटर आती है.....वह छोटी मोटर आती है....वह.....’

और मेरे नीम-गनोदा कानों में कुछ ऐसे सुनायी दिया—
‘वह छोटी मोटर आती है....वह मोटा इंजन चलता है....वह छोटी मोटर आती है....वह मोटा इंजन चलता है....।’ भुँभलाकर मैं उठा और मैंने धीमी आवाज़ में कड़ककर कहा—“चुप रहो” और फिर मैंने सोने की कोशिश की ।

लड़कियाँ चुप हो गयीं या शायद मोड़ के कारण मोटर और इंजन ओभल हो गये, लेकिन कुछ देर बाद मुझे सोया जानकर दोनों फिर चिल्लाने लगीं—

न ये चाँद होगा न तारे रहेंगे,
मगर हम हमेशा तुम्हारे रहेंगे ।

आखिर मैं उठा, मुँह पर हाथ फेरकर मुड़ा और मैंने भल्ला साहब से कहा—“आपकी लड़कियाँ खूब गाती हैं साहब ! इन्हें किसी ऐसे स्कूल में भरती कराइए, जहाँ इनकी प्रतिभा को उचित विकास का अवसर मिले ।”

भल्ला साहब ने मेरी ओर देखा और बोले, “मेरा अपना यही खयाल है, लेकिन अभी तो ये पड़ोस के सिनेमा ही से शिक्षा पाती हैं ।”

उनकी यह बात सुनकर चोपड़ा साहब ने ठहाका लगाया । मेरी तरह शायद वे भी सोने की कोशिश कर रहे थे और कनसुरी लड़कियों का भद्दा कर्कश स्वर उनकी नींद को झकझोर रहा था । हँसकर और पीछे मुड़कर भल्ला साहब की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, “आप इन्हें ऑल इण्डिया रेडियो में बच्चों के प्रोग्राम में भेजिए ।”

अबकी साली महोदया बोलीं, “रेडियो के प्रोग्राम-असिस्टेंट तो हमारे नज़दीक ही रहते हैं । लड़कियाँ दिन-भर गाती रहती हैं । इनका गाना सुनकर उन्होंने कहा कि ये रेडियो की बड़ी अच्छी आर्टिस्ट सिद्ध होंगी, पर जीजा जी मानते ही नहीं ।”

इस पर जीजा जी अपने मोटे, पंजाबी कुलचे जैसे गोल गुल-गोथने मुख से मुस्कराते हुए बोले, “हमारा घर ज़रा रेडियो से दूर पड़ता है, एक हिलमैन ले लें तो भेजा करेंगे ।” और उन्होंने प्यार से छोटी

लड़की को खींचकर अपनी गोद में ले लिया और बोले, “सुनाओ न बेटी वह गाना—

दूर कोई गाये, धुन यह सुनाये—

तेरे बिन छलिया हो, बाजे न सुरलिया हो ।

और बेटी प्रसन्न और प्रोत्साहित होकर चिंघाड़ने लगी ।

मैंने सिर पीट लिया । सोने का खयाल एकदम छोड़कर मैं बाहर के बदलते दृश्यों को देखने लगा ।

शाम को छः बजे के करीब बटोत पहुँचे । मैं बहुत थका हुआ था, एक तो रात नींद न आयी थी और दूसरे बस में जो एक-आध घंटा आँख लगती वह लता मंगेशकर के कान फाटने वाली भल्ला साहब की उन सुपुत्रियों ने चौपट कर दी थी । बस जिस होटल के सामने जाकर रुकी, उसी में रात के लिए एक कमरा मैंने तय कर लिया । दो चारपाइयाँ थीं, बरामदा था, बहुत रौशन न था, न बहुत खुला, लेकिन सुबह गर्म पानी मिल सकता था । चाय पीने या खाना खाने के लिए दूर जाने की ज़रूरत न थी, किराया भी अढ़ाई रुपया था । सो हमने तय कर लिया कि यहीं रहेंगे और चाय का आर्डर दे दिया ।

भल्ला साहब अपनी साली और बन्धियों-समेत ज़रा देर में उतरे और उन्होंने पहले पिछले होटलों में देख लेना ज़रूरी समझा । चोपड़ा साहब और उनके परिवार को भी वे साथ ले गये । हम कमरे में सामान आदि रखवाकर आधी चाय पी चुके थे, जब वे पतलून में हाथ दिये उन सब के आगे-आगे हमारे होटल की सीढ़ियाँ चढ़े । वे दोहरे शरीर के गोरे-मोटे, मँभले कद के आदमी थे, उनके गोल-गोल, मोटे गाल ऐसे चमकते थे जैसे वे उन पर रोज़ मक्खन की मालिश

करते हों। खुले गले की कमीज़ और गहरी हरी कार्डराय की पैंट उन्होंने पहन रखी थी। यदि उनकी अघेड़ उम्र की बिलकुल पुरानी तर्ज़ की बीवी, पढ़ी-लिखी होने के बावजूद अनपढ़ दिखायी देने वाली साली और मैले गन्दे चेहरे वाली बन्धियों उनके साथ न होतीं तो वे अच्छे-खासे अफ़सर लगते। पर तब हिलमैन कार ख़रीदने की ज़ां बात उन्होंने की थी, उसे याद कर मैंने सोचा कि नौ-दौलतिये सेठ हैं, जो स्वयं तो कुछ संस्कृत हो गये हैं, पर उनके घर वाले उसी कीचड़ में कलाबाज़ियाँ लगा रहे हैं।

“कहिए आर्टिस्ट साहब, आपने कहाँ कमरा लिया है?” सीढ़ियों चढ़ते हुए भल्ला साहब ने कहा।

“अजी फ़िलहाल तो चाय पी रहे हैं,” मैं हँसा, “शरीर में कुछ शक्ति आये तो कमरा ढूँढ़ें।”

“लेकिन शाम हो रही है।”

“और कहीं न हुआ तो यहीं पड़े रहेंगे,” मैंने थके हुए स्वर में कहा, “सामान यहीं रखवा दिया है। ऊपर अढ़ाई-अढ़ाई रुपये में कमरे मिलते हैं।”

और अपनी पार्टी को लिये हुए भल्ला साहब धड़धड़ाते हुए ऊपर पहुँचे और कुछ देर बाद वापस आकर नाक-भौं चढ़ाते हुए बोले—
“बड़े गन्दे और अँधेरे कमरे हैं, आप इनमें कैसे उतर गये!”

और वे आगे जाकर कोई अच्छा, हवादार और खुला होटल देखने के खयाल से चले गये।

उनके जाते ही मेरी बीवी ने शिकायत की, “आप बस यहीं बैठ गये, ज़रा हिम्मत कर आगे-पीछे देखते तो क्या हमें भी कोई अच्छा और सस्ता कमरा न मिल जाता?”

“बीबी जी, भूल मारकर ये लोग यहीं आयेंगे।” होटल वाले ने उसकी बात सुनकर कहा, “रेस्ट हाउस भरा पड़ा है। खैमे कुछ आगे लगे हैं। पर एक तो उनमें ठंड है, दूसरे किराया फ्री खैमा तीन रुपये है। हमसे सस्ता और आरामदेह होटल बटोत में दूसरा नहीं मिल सकता। आपको कोई कष्ट हो तो हम हर तरह सेवा के लिए तैयार हैं, ये लोग डेढ़ रुपये में कमरा चाहते थे। दस मिनट ऊपर बहसते रहे। सारे बटोत में घूम आयें, हमारे होटल से सस्ती जगह इन्हें कहीं नहीं मिल सकती।”

और होटल वाले की बात ठीक थी। कोई आध-एक घंटे के बाद भल्ला साहब अपनी पार्टी के साथ वापस आ गये। हम पर एहसान जमाते हुए उन्होंने कहा, “लॉजिए आर्टिस्ट साहब, हम भी यहीं आ गये।” और फिर उन्होंने चोपड़ा आदि की ओर इशारा करते हुए कहा, “ये लोग ज़्यादा खुला और हवादार कमरा चाहते थे, पर मैंने इनसे कहा कि सफ़र में हमेशा इकट्ठे रहना चाहिए। इसलिए सोचा कि जहाँ आप ठहरे हैं, वहीं हम ठहरें।”

और वे होटल वाले को एक ओर ले गये और पन्द्रह-बीस मिनट तक उसके साथ सरगोशियों में भगड़ते रहे। एक बार हमने उनकी आवाज़ सुनी—“तो हम सामने चले जायेंगे, यहाँ से कहीं बड़े कमरे हैं।”

लेकिन होटल वाला टस से मस न हुआ, आखिर उन्होंने एक कमरा ले लिया।

“और चारपाई दरकार हो तो चार आना फ्री चारपाई मिल सकती है।” होटल वाले ने वापस आते हुए कहा।

“हम तो वे भी निकाल देंगे,” ऊपर कमरे की ओर जाते हुए

उन्होंने कहा, “खटमलों में हमें कभी नींद नहीं आती।” और फिर मेरी ओर देखकर बोले, “आप भी आर्टिस्ट साहब, फर्श पर ही बिस्तर लगाइएगा।”

चोपड़ा साहब दिल्ली के एक प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक के सम्पादन-विभाग में काम करते थे, अच्छा वेतन पाते थे और मेरा खयाल था कि भल्ला और चोपड़ा साहब ने अलग-अलग कमरे लिये होंगे, लेकिन सुबह पता चला कि भल्ला साहब ने उन्हें मजबूर कर दिया था कि वे उन्हींके साथ रहें। “अरे भाई, आप चारपाइयों पर सोना चाहते हैं, आप अन्दर कमरे में सोइए। हम बरामदे में बिस्तर लगा लेंगे, हम तो यों भी खुली हवा पसन्द करते हैं।” उन्होंने कहा था और चोपड़ा साहब को ज़बरदस्ती अपने साथ ही रात काटने पर विवश कर दिया था। और इस तरह दोनों ने सवा-सवा रुपये में मज़े में रात काट ली थी।

खाना भी उन्होंने होटल में न खाया था। जब हमने उनसे कहा कि खाना इस होटल में बहुत अच्छा मिलता है तो वे बेपरवाही से बोले थे कि वे अँगोठी-कोयले साथ लाये हैं, इसलिए वे मज़े से अँगोठी जलायेंगे, पराँठे बनायेंगे, मुर्ग तो सस्ते मिलते हैं, मुर्ग पकायेंगे और जशन मनायेंगे।

बानिहाल तक तो भल्ला साहब से मुझे कुछ ईर्ष्या थी, पर वैरीनाग पहुँचकर पता चल गया कि ढोल के अन्दर कितना पोल है। वैरीनाग काश्मीर के सुन्दरतम झरनों में से है। सरकारी बस का ड्राइवर एक-एक रुपया फ्री सवारी ज़्यादा लेकर, उधर से बस घुमाकर ले जाने को तैयार हो गया। हम वहाँ पहुँचे तो पूर्ववत् भल्ला साहब सबसे आगे-आगे जेहलम का वह स्रोत देखने चले। वहाँ बावली

पर एक मन्दिर भी है। हम भरने के निकट पहुँचे तो बाहर से ही एक पंडित भी गाइड-स्वरूप हमारे साथ हो लिया। भल्ला साहब ही को उसने हममें से सबसे सम्पन्न समझा और उन्हींके पीछे-पीछे 'चश्मा-वैरीनाग' की सब जानने योग्य बातें बताते हुए चलने लगा।

वैरीनाग चारों तरफ़ से घिरा बावलीनुमा अठकोना भरना है। सोता कहीं बहुत नीचे फूटता है और बावली की सतह पर यह भी मालूम नहीं होता कि पानी लगातार नीचे से फूट रहा है, लेकिन बावली से बाहर हर मिनट इतना पानी निकलता है कि जिसमें से न केवल एक बड़े रजबहे-सा जेहलम बहता है, बल्कि छोटे-छोटे बड़े घान की सिंचाई के लिए भी निकलते हैं।

भल्ला साहब और गाइड के पीछे-पीछे हम भी अन्दर दाखिल हुए। जहरमोहरे रंग का निर्मल जल, रोटी का टुकड़ा फेंकें तो दूर तक पानी भी उतरता दिखायी दे—बेशुमार मछलियाँ—काली-काली, लम्बी-लम्बी, विज़िटरो के साथ-साथ रोटी या बिस्कुट के लालच में सर-सराती, तैरती, बिजली की-सी गति से एक से दूसरे किनारे पहुँचने वाली !

गाइड के आगे-आगे बड़ी शान से चलते हुए भल्ला साहब ने और उनके तुफ़ैल हमने भी सब ब्योरे जाने कि जहाँगीर ने किस सन् में उसे बनवाया ; जब जहाँगीर वहाँ आते थे तो कहाँ बैठते थे; चश्मा कितना गहरा है आदि-आदि.....

सोते की बहार दिखाकर गाइड हमें बाहर ले आया। वहाँ बाग़ के एक ओर उसने हमें एक और सोता दिखाया, जहाँ पानी उबलता हुआ-सा निकल रहा था। वैरीनाग के बाहर का बाग़ बहुत ही सुन्दर है। बीचों-बीच जेहलम बहता है। दोनों ओर घास के मैदान हैं। रंग-बिरंगे फूल और तरह-तरह के फलदार पेड़ हैं और यहीं पहली बार

गगनचुम्बी चिनारों के दर्शन होते हैं। गाइड ने हमें बाग़ की एक-एक चीज़ दिखायी, खून के रंग के कमल, गिलास, चेरी, खूबानी और सेब के पेड़ और फिर वह हमें बाग़ के दूसरे किनारे प्रपात दिखाने ले गया। वास्तव में बाग़ के अन्त पर पहुँचकर जेहलम छोटे से प्रपात के रूप में गिरता है और वह दृश्य देखने वाली आँख के लिए बहुत सुन्दर है।

हम लोगों ने बाग़ की सैर की, गिलास खाये, फूल तोड़े। भल्ला साहब ने उस बर्फ़ जैसे ठंडे पानी में स्नानकर शिव की मूर्ति को प्रणाम किया, लेकिन न कुछ दक्षिणा दी, न गाइड को बख़शीश। जब हम बस के लिए चलने लगे तो गाइड बख़शीश के लिए उनके पीछे-पीछे हाँ लिया। उन्होंने उसे मेरी ओर भेज दिया। वह सारा वक्त उन्हींके साथ घूमता रहा था, लेकिन उसकी बदौलत हमें भी वैरीनाग के सुन्दर सोते का राई-रत्ती हाल मालूम हो गया था। मैंने आठ आने उसे दे दिये। उसने पूछा कि यह सबकी आंर से है या अकेले मेरी ओर से? मैंने कहा कि यह मेरी तरफ़ से है, उनके उनसे ले लो।

भल्ला साहब तब तक बस में जा बैठे थे। जब तक बस चल नहीं पड़ी, वह पंडित उनसे निरन्तर बख़शीश माँगता रहा, पर उन्होंने एक पाई भी उसे नहीं दी।

वैरीनाग में ही किसी ने उन्हें नहाते देखकर गोप की उपाधि दे दी और वह उपाधि उन पर ऐसी चिपकी कि भल्ला साहब की जगह वे गोप साहब हो गये।

और यों भल्ला साहब का ज़िक्र आते ही बस से लेकर श्रीनगर के अमीराकदल तक भल्ला साहब के साथ बीती घड़ियों के सारे दृश्य आँखों

के सामने घूम गये। मेरे मित्रों ने श्रीनगर के आर्टिस्टों के नाम कुछ पत्र लिख दिये थे और बस श्रीनगर में पहुँची तो श्री काचरू, श्री बट और श्री संतोष—श्रीनगर के तीनों युवा आर्टिस्ट बस के अड्डे पर पहुँचे हुए थे। सामान उतरवाते, बातें करते और वहाँ वेटिंग रूम में चाय पीते-पिलाते हमें देर हो गयी थी।

जब हम तौंगे में टंकी-हाउस की ओर जा रहे थे, जहाँ काचरू साहब रहते थे तो हमें अमीराकदल के पास गोप साहब का काफ़िला आता दिखायी दिया—आगे-आगे वे स्वयं और उनकी बीवी, फिर उनकी साली और बच्चियाँ, फिर चोपड़ा-परिवार, फिर दिल्ली के चचा-भतीजी—उन सब को शायद उन्होंने अपनी लीडरी में ले लिया था।

हम तो दो दिन काचरू साहब के साथ रहकर एक हाउस-बोट में उठ गये और फिर गोप साहब से हमारी मुलाकात नहीं हुई, लेकिन एक दिन अचानक गुलमर्ग में चचा-भतीजी से मुलाकात हुई, जिस होटल में हम उतरे, उसी में वे ठहरे हुए थे। बातों-बातों में भल्ला साहब का ज़िक्र चला तो चचा हँसकर बोले, “हमको साहब उन्होंने पहले दिन वह धुमाया कि आज तक टोंगें दुख रही हैं। हमको इस बात का विश्वास दिलाकर कि वे हमें अच्छा और सस्ता कमरा लेकर देंगे, श्रीनगर के आधे होटलों में धुमाते फिरे। हम गठिया के मरीज़, हमारे लिए बार-बार ऊपर-नीचे चढ़ना-उतरना मुश्किल और वे किसी में कुछ दोष निकालें और किसी में कुछ। हम तो साहब ऊब गये। आखिर हमने कहा कि भाई हम होटल में रहने से बाज़ आये। हमारे लिए ठगे जाना भला, लेकिन यह होटलबाज़ी हमारे बस की नहीं....और हम एक हाउस-बोट में उठ गये।”

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

अचानक इस बात की याद आ जाने से लिह्र के किनारे चलते-चलते मैंने चोपड़ा साहब से पूछा—

“आखिर किस होटल में ठहरे, भल्ला साहब ?”

“होटल में ठहरे !” चोपड़ा साहब ने एक ठहाके के साथ छड़ी घुमाते हुए एक छोटी सी पथरी को इतनी ज़ोर से ठोकर लगायी कि वह लिह्र के पानी में दूर जा गिरी। “रेज़िडेन्सी रोड से अमीराकदल के पार जब सब होटल भल्ला साहब ने देख डाले और उन्हें कोई पसन्द न आया और गर्ग साहब (चचा) अपनी भतीजी को ले कर हाउस-बोट में चले गये तो हम भी आजिज़ आ गये। लेकिन जिस मित्र ने हमें श्रीनगर में निमंत्रित कर रखा था, उसका मकान शहर से बाहर था, इसलिए हमने सोचा था कि एक-दो दिन होटल में ही रह लें और इसीलिए हम उनके साथ चल दिये थे। जब हमने कहा कि यार कोई भी कमरा तय कर लो, हम थक गये हैं, बची थक गयी है तो भल्ला साहब हमें एक लॉड्जी में ले गये जिसके प्रोपराइटर के नाम वे दिल्ली से ही चिट्ठी लाये थे। लॉड्जी वालों ने जिन दो-चार होटलों का पता दिया, उनमें हम पहले ही हो आये थे। तब भल्ला साहब ने कहा कि एक चिट्ठी वे दूसरे लॉड्जी वाले के नाम भी लाये हैं....लेकिन साहब, हम तो इतने से ही ऊब गये। हमने तौंगा लिया और अपने मित्र के यहाँ जा पहुँचे।” H83.11/H825

“लेकिन लॉड्जी वालों से भल्ला साहब की कैसे दोस्ती थी ?” मैंने सहसा पूछा। H2603

“वह खुद जो लॉड्जी वाले हैं,” चोपड़ा साहब ने ठहाका लगाया, “दिल्ली में उनकी बड़ी-भारी लॉड्जी है।”

दालिये

“भाभी कहती थीं कि उन्होंने जान आप्त में कर दी, तो क्या आप लोग इकट्ठे रहे थे ?”

“अरे कहाँ साहब,” चोपड़ा साहब एक दूसरी पथरी को टोकर लगाते हुए बोले, “दो दिन हम अपने उन मित्र के यहाँ रहे, लेकिन वह जगह शहर से इतनी दूर थी कि दो ही दिनों में ऊब गये, तब हमारी भेंट एक दूसरे मित्र से हुई, जिनका एक मकान अमीराकदल में था। उसके दो कमरे खाली थे। ज़ोर देकर वह हमें अपने यहाँ ले गये। एक दिन भल्ला साहब अपनी बीवी और साली समेत हमें मिले, मैंने पूछा, “कहिए किस होटल में ठिके हैं ?”

“हम तो चार आने रोज़ खर्च करते हैं और मज़े से श्रीनगर के आनन्द लूट रहे हैं।”

“मैंने हैरानी प्रकट की तो गोप साहब ने बताया कि दो दिन तो उन्होंने अमीराकदल के गुरुद्वारे में काटे। जब ग्रन्थी किसी तरह भी दो दिन से ज़्यादा वहाँ टिकाने को तैयार न हुआ तो वे माईसुमा बाज़ार में, मेजेस्टिक होटल के पास अपने एक लॉड्जी वाले मित्र के यहाँ चले गये। उसकी लॉड्जी ऊपर की मंज़िल में है। साथ छोटी-सी बालकनी है, बस सामान उन्होंने वहाँ टिका दिया, दूकानें तो वहाँ नौ बजे बन्द हो जाती हैं। उधर कचहरी का दरवाज़ा है जो छः बजे बन्द हो जाता है। भल्ला साहब रात को नीचे फुटपाथ पर सो जाते। सुबह दो आने कुली को देते, वह बिस्तर ऊपर उठाकर बालकनी में रख देता। दो आने सुबह और दो आने शाम, बस चार आने में उनका काम बन जाता।

“गोप साहब यह बता चुके तो उनकी साली चहक़ीं।—‘इतना सस्ता होटल कहिए कहाँ मिलेगा ?’

“हाँ इतना सस्ता तो सारे श्रीनगर में नहीं मिल सकता,” मैंने दाद दी, “लेकिन नहाने-धोने और नित्य-कर्म से निवृत्त होने में आपको कठिनाई होती होगी।”

“अरे यहाँ क्या, हम तो दिल्ली जैसे शहर में भी प्रातः उठकर बाहर खेतों में जाते हैं।” भल्ला साहब ने गर्वभरे स्वर में कहा।

“लेकिन यहाँ भी खेत कोई इतने पास नहीं।” मैंने आपत्ति की।

“तब भल्ला साहब ने बताया कि उनके सारे खानदान की नूर के तड़के उठने की आदत है। उनकी और उनकी बीवी की आँख न खुले तो बच्चियाँ जगा देती हैं। सुबह तड़के उठकर, दो-अढ़ाई मील का मंज़िल मारकर वे शंकराचार्य जाते हैं। वहाँ निबट-निबटा भी आते हैं और भगवान् शंकर के दर्शन भी कर आते हैं। पहाड़ी से नीचे उतर, डल में स्नान भी करते हैं और वहीं से कपड़े भी धो लाते हैं।”

“लेकिन इतनी दूर आप क्यों जाते हैं,” मैंने कहा, “जेहलम में क्यों नहीं नहाते ?”

जेहलम का पानी बड़ा गन्दा है।” साली साहबा ने नाक-भौं चढ़ायी।

“लेकिन दूसरे ही दिन उन देवी जी के मुँह से निकल गया कि जेहलम में जो लकड़ी के स्नानगृह बने हैं, उनमें काश्मीरी माँभी औरतें ही नहा सकती हैं। बाहर वालों का तो दम निकल जाय।

और मालूम हुआ कि कभी-कभी वहाँ वे स्नान कर आती हैं।”

मैं चुपचाप चोपड़ा साहब की बातें सुनता रहा था। हालाँकि भल्ला साहब का कुछ रंग मैंने रास्ते में बस ही में देख लिया था तो भी जैसे विश्वास न हुआ। मैंने कहा, “मुझसे तो कहते थे कि श्रीनगर में

*** दालिये

हाउस-बोट में टिकेंगे । रोज़ मुर्ग भूँगे और तन्दूर के लगे हुए पराँठे मँगायेंगे ।”

“अरे वे क्या मुर्ग खाते, उनके दादा-परदादा ने न चखे होंगे ।”
चोपड़ा साहब जलकर बोले, मेरे साथ दस दिन रहे, मैं अच्छी तरह जानता हूँ, जो वे खाते हैं ।”

“आपके साथ ?”

“बात यह है कि एक दिन वे हमें हमारे घर पर मिलने आ गये । मेरे पास दो कमरे थे । वास्तव में मेरे मित्र के कोई मेहमान आने वाले थे और उन्हें आने में कोई पन्द्रह-एक दिन की देर हो गयी थी और मित्र ज़ोर देकर हमें पन्द्रह दिन के लिए वहाँ ले आये थे । कमरे बड़े कुशादा और खुले थे । गोप साहब की तो आँखें खुली रह गयीं, कहने लगे, ‘आपके तो बड़े मज़े हैं ।’ मेरे मुँह से निकल गया, ‘आपको वहाँ तकलीफ़ हो तो शौक से आ जाइए, और दस दिन तक ये कमरे मेरे पास हैं । एक आप ले लीजिए ।’

.....मैंने तो योही कहा था लेकिन गोप साहब उसी वक्त जाकर सामान ले आये । वे तो रसोई भी वहीं पकाना चाहते थे, लेकिन रसोई वहाँ थी नहीं और मैंने मित्र की उदारता का अनुचित लाभ उठाना उचित नहीं समझा और उन्हें कोयले वाली अँगीठी भी नहीं जलाने दी । उन्होंने नीचे फुटपाथ पर भी खाना पकाने का प्रस्ताव किया । कहने लगे कि पिकनिक का तो यही मज़ा है कि सरे-सड़क खाना पकाया जाय । यद्यपि मैं स्वयं उस तरह की फक्कड़बाज़ी में विश्वास रखता हूँ, लेकिन मुझे उनका नीचे सड़क पर खाना पकाना अपने मित्र का अपमान करने के बराबर लगा । सो वे सामने प्यारासिंह के ढाबे पर जाकर सुबह-शाम पाँच आना प्रति थाली खाना खा आते थे ।

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

पति-पत्नी और साली तीन थालियाँ मँगाते और बच्चियों को साथ खिला लाते। हमको भी कई बार साथ ले गये, लेकिन भाई हमारे बस का तो था नहीं वह खाना। हम तो 'मेजेस्टिक' में खाते थे। प्यारासिंह के ढाबे पर जब-जब हमने खाया, हमेशा गोप साहब से कहा कि भाई हमें तो पराँठे और स्पेशल मँगा दो। यह उरद की दाल हमारे बस की नहीं।”

“प्यारासिंह के ढाबे में तो हमने भी खाया है,” मैंने कहा, “मुर्गा तो वहाँ बहुत अच्छा बनता है। आठ आने में आधी प्लेट मिल जाती है और अढ़ाई रुपये में मुर्ग-मुसल्लम।”

“मैंने भल्ला साहब से पूछा था,” चोपड़ा साहब बोले, “कि यहाँ तो सस्ता मिलता है, आप क्यों नहीं लेते, तब उन्होंने फर्माया था कि मुर्ग तो दिल्ली में भी मिल जाता है, काश्मीर में तो फल खाने चाहिएँ।”

“दुकान तो एक रोज़ की खा जाते होंगे,” मिसेज़ चोपड़ा हँसी, “हमने तो भाई साहब, एक खूबानी भी उनके हाथ में नहीं देखी।”

और हम सब हँस दिये।

“लेकिन मोटे तो गोप साहब खूब हैं।” मैंने कहा।

“उरद की दाल खाकर फूल गये हैं।” चोपड़ा साहब ने अतीव उपेक्षा से कहा।

कुछ क्षण हम चुपचाप चलते रहे। लिह्र पर नया पुल बन रहा था। लोहे के मोटे-मोटे रस्सों पर टिका था और सरकारी आदेश था कि एक वक्त में एक आदमी ही पार जाय। हम एक-एक कर चले। नीचे लिह्र का पानी उद्दाम बह रहा था—पत्थरों से टकराता, भाग उड़ाता, उन्मुक्त! पानी की हरियाली या नीलाहट कहीं भी दिखायी न देती,

*** दालिये

बस उबलती हुई पिघली चॉदी-सा लिद्दर पहलगाँव के सीने पर उड़ा जा रहा था ।

जब हम पुल के पार पहुँच गये तो मैंने पूछा, “पहलगाँव में भल्ला साहब कहाँ रहे ?”

“रहे !” चोपड़ा साहब हँसे, “जब हम श्रीनगर से चलने लगे तो पहले तो वे कमरा ही खाली करने को तैयार न हुए, कहने लगे कि आप तां जा ही रहे हैं, हम आप वाले कमरे में रह लेंगे, लेकिन मित्र के मेहमान आ गये थे, उसने हमें पहले ही कह दिया था कि पन्द्रह दिन से ज़्यादा वह हमें कमरे न दे सकेगा । सो बड़ी मुश्किल से वे वहाँ से उठने पर राज़ी हुए, लेकिन जब उन्होंने सुना कि हम पहलगाँव जा रहे हैं और हमें उम्मीद है कि वहाँ एकाध कमरा मिल जायगा तो उन्होंने भट पहलगाँव आने का प्रोग्राम बना लिया, कहने लगे— ‘पहलगाँव बहुत अच्छी जगह है । काश्मीर आयाँ और पहलगाँव न देखें तो काश्मीर आना बेकार है । हम तो वहाँ बीस दिन रहने का प्रोग्राम बना रहे हैं ।’ श्रीनगर में विज़िटर्स ब्यूरो के डिप्टी डायरेक्टर मेरे मित्र हो गये थे, उन्होंने कहा था कि उनके अधीन पहलगाँव का एक क्लर्क है, जिसका अपना घर वहीं है । उसमें एक कमरा मैं आपको दिलवा दूँगा । बातों-बातों में भल्ला साहब से मैंने इस बात का जिक्र कर दिया और मैं तो पीछे बनाता, उन्होंने पहले ही पहलगाँव आने का प्रोग्राम बना लिया ।”

“डिप्टी डायरेक्टर आपसे कैसे वाकिफ़ हो गये—कुछ पहले का परिचय था ?”

“नहीं साहब,” चोपड़ा साहब हँसे, “बड़ी मज़ेदार बात है । श्रीनगर में रहने का ठिकाना पक्का तो था नहीं । यह ठीक है कि दो-एक मित्रों

ने बुलावा दे रखा था, एक-दो मित्रों ने अपने काश्मीरी मित्रों के नाम चिट्ठियाँ भी दे दी थीं, लेकिन कौन-सी जगह हमारे लिए ठीक होगी, इसका कोई भरोसा न था। सो मैं चिट्ठी-पत्री के लिए विज़िटर्स ब्यूरो का पता दे आया था। बस से उतरते ही जब मुझे पता चला कि ब्यूरो का दफ़्तर सामने ही है तो मैंने सोचा कि पहले वहीं हो लूँ। वहाँ चपरासी ने जिस कमरे की ओर संकेत किया, वह डिप्टी साहब का कमरा था। सूट-बूट में लैस एक युवक अफ़सर मेज़ पर बैठे दो-एक ऐसे व्यक्तियों से बात-चीत कर रहे थे, जो या तो अफ़सर थे या अफ़सरों के रिश्तेदार। उन्हें निबटाकर वे मेज़ से समाचार-पत्र उठाकर देखने लगे। मेरे आने का उन्होंने कोई नोटिस न लिया। बात यह थी कि सफ़र से आने के कारण कपड़े खासे गन्दे हो रहे थे। आप लोगों ने तो बटोत में स्नानकर कपड़े बदल लिये थे, लेकिन हमसे तो सुबह-सुबह उस ठंडे पानी में नहाया न गया.....”

“लेकिन गम पानी की बाल्टी तो वहाँ चार आने में मिलती थी।” मैंने टोका।

“हम तो गर्म पानी की दो बाल्टियाँ मँगाने वाले थे, लेकिन भल्ला साहब ने रोक दिया। बोले, “वहाँ चश्मा वैरीनाग में नहायेंगे, ऐसा स्वास्थ्यकर पानी है वैरीनाग का कि बड़े-बड़े पुराने रोग उस पानी से कट जाते हैं।” लेकिन जब वैरीनाग पहुँचकर बाहर बाग़ के रजबहे में हमने हाथ डाला तो लगा जैसे हाथ ही झड़ गया। भल्ला साहब ने तो उस पानी में नहाकर कपड़े बदल लिये, हमारा तो साहस नहीं हुआ.....कपड़े मेरे मैले ही थे। मैंने उन डिप्टी साहब से अंग्रेज़ी में कहा, “मैं ज़रा आपको कष्ट देने आया हूँ।”

उन्होंने बिना समाचार-पत्र से आँखें उठाये उत्तर दिया—“कहिए।”

तब मैंने अपनी बात कही। बोले, 'मैं बहुत व्यस्त हूँ।' और उन्होंने चपरासी से कहा कि इन साहब को क्लर्क के पास ले जाओ।

मेरा खून खौल गया, मैंने कहा—'आप किस काम में व्यस्त हैं?'

उन्होंने अखबार आगे से हटाया। मैंने कहा, 'मेरे एक मित्र ने काश्मीर के विज़िटर्स ब्यूरो की बड़ी तारीफ़ की थी। मुझे मालूम न था कि यहाँ के अफ़सर इतने असभ्य हैं कि वे किसी विज़िटर की ओर आँख उठाकर देखना भी अपनी व्यस्तता में खलल समझते हैं।'

अंग्रेज़ी समाचार-पत्र का मैं सम्पादक। अंग्रेज़ी मेरे घर की लौंडी। मेरी फ़रारिदेदार अंग्रेज़ी सुनकर वे चकराये और खीझकर बोले, 'आपके मित्र ने यह भी कहा था कि विज़िटर्स ब्यूरो डाकखाने का काम भी करता है?' मैंने कहा, 'अगर किसी विज़िटर ने भ्रमवश ऐसा समझ ही लिया तो ब्यूरो का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह भरसक उसे सहायता दे। एक क्लर्क की यह ड्युटी लगायी जा सकती है। मैं अपने अखबार में बाकायदा अपने संस्मरण भेजने वाला हूँ। मेरा खयाल था कि मैं विज़िटर्स ब्यूरो की प्रशंसा से शुरू करूँगा पर लगता है कि.....

डायरेक्टर साहब का चेहरा एकदम बदल गया।

'आप तशरीफ़ रखिए!' उन्होंने कुर्सी से लगभग आधे उठते हुए कहा। उनका सारा रवैया ही बदल गया, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं 'दिल्ली टाइम्स' के सम्पादन-विभाग में हूँ तो न केवल उन्होंने मेरे पत्रों को स्वयं सम्हालकर रखने का आश्वासन दिया, बल्कि चाय भी पिलायी।

इसके बाद मैं कई बार उनसे मिला। खासी घनिष्ठता हो गयी। अपने काम और कठिनाइयों का विस्तृत ब्योरा उन्होंने मुझे दिया। मैंने एक लेख भी लिखा। जब मैंने पहलगौंव जाने की इच्छा प्रकट

की तो उन्होंने एक कमरा मुझे ले देने का वचन दिया। पहले उनका इरादा केवल चिट्ठी देने का था। फिर उन्होंने स्वयं भी पहलगॉंव का प्रोग्राम बनाया और मुझे यहाँ हर तरह से सन्तुष्ट देखकर वापस गये।”

हम लिह्र के दूसरे किनारे काफ़ी दूर वापस चले आये थे। आगे रास्ता पहाड़ से आने वाले एक छोटे-से नाले के कारण बन्द था। पानी सारे किनारे पर फैल गया था। हम कुछ नीचे उतरकर पत्थर-पत्थर कूद आगे बढ़े। बातें करते हुए गिर न जायँ, इस ख्याल से चोपड़ा साहब कुछ क्षण के लिए चुप हो गये। फिर नाला पार कर वे बोले, “अब यहाँ की सुनिए। गोप साहब यहाँ भी आकर गुरुद्वारे में ठहरे। यहाँ वही दो दिन ठहरने का नियम.....उन्होंने बहुतेरे हाथ-पाँव जोड़े, पर यहाँ भी ग्रन्थी टस से मस न हुआ। तब वे मेरे पास आये। बोले, ‘यार यह कमरा तो बहुत बड़ा है, हम यहीं न चले आयँ?’ मैंने साफ़ कह दिया कि भाई, यह मेरे मित्र का नहीं, मेरे मित्र के मित्र का घर है, मैं किसी दूसरे परिवार को यहाँ कैसे ठहरा सकता हूँ।’ बोले, ‘आप हमें दूसरा समझें, हम तो आपको अपना ही समझते हैं।’ मैंने कहा— ‘यह तो ठीक है, लेकिन दूसरे तो ऐसा नहीं समझ सकते....’ और मैंने दूसरी दलील दी, ‘श्रीनगर में तो दूसरा कमरा था, यहाँ एक ही कमरा है। आपको भी दिक्कत होगी और हमको भी। तब कहने लगे—‘हमारी दिक्कत की आप चिन्ता न कीजिए, हाँ, हमारे कारण आपको कठिनाई ज़रूर होगी।’ मैंने कहा, ‘कठिनाई की बात नहीं, यह कुछ ठीक नहीं लगता, पास ही वज़ीर होटल है, एक-एक रुपये में कमरा मिल जायगा। आप कहिए तो मैं वहाँ प्रबन्ध करा दूँ।’

*** दालिये

तब नाक-भौं चढ़ाकर वे बोले—‘वजीर होटल के कमरे बड़े तंग और सीलन भरे हैं। होटल में रहेंगे तो फिर पहलगाँव होटल में रहेंगे। पाँच रुपये रोज़ किराया तो है, लेकिन कमरे बड़े खुले हैं। और पिछली तरफ़ से लिफ्ट का बड़ा ही सुन्दर नज़ारा दिखायी देता है।’ मैंने कहा ‘पहलगाँव होटल से इस कमरे का क्या मुकाबिला ?’

“फिर वे गये वहाँ ?” सहसा मैंने पूछा।

“अरे साहब ये लोग दालिये हैं दालिये !” चोपड़ा साहब जोर से ठहाका मारकर हँसे।

“दालिये !” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“अजी आर्टिस्ट साहब, यहाँ ऐसे विज़िटरों को उपेक्षा से काश्मीरी लोग ‘दालिये’ कहते हैं। काश्मीरी शब्द ता दालि-विज़िटर है प मतलब उसका दालिये ही है—तन्दूर की रोटी और मुफ्त की दाल खाकर ये लोग काश्मीर की ज़न्नत के मज़े लूट जाते हैं। अगर सभी विज़िटर ऐसे आने लगें तो काश्मीर के ये बादाम और अखरोट, आड़ू और खूबानियाँ, सेब और बग्गूगोशे, शाल-दुशाले, बुडकट और पेपरमैशी—ये सब कौन खरीदेगा ?”

“आप ठीक कहते हैं।” और इस बार चोपड़ा साहब के साथ मैं भी हँसा।

“अब मैं आपसे क्या कहूँ,” चोपड़ा साहब अपनी रौ में बोले, “उन्होंने तो श्रीनगर में मुझे भी शर्मिन्दा कर दिया था। उन्हीं दिनों जब ये मेरे साथ रहते थे, एक दिन बोले कि आइए आपको निशात और शालामर की सैर करायें। हम तैयार हो गये। सीज़न का जोर, तेरह-चौदह रुपये से कम में कोई शिकारा ले जाने की तैयार न हुआ। बड़ा भाव-ताव करके बे-गद्दी का एक शिकारा दस रुपये में तय किया।

पहले शालामार, फिर निशात, फिर चरमाशाही और आते-आते नेहरू पार्क गये। जब वापस अमीराकदल पहुँचे तो रात के नौ बज चुके थे। शिकारा छोड़ा तो पैसे निकालते-निकालते सड़क तक आ गये। शिकारे वाला लगातार कहता आया—‘हुजूर बड़ी मेहनत की है, कुछ बखशीश भी मिलनी चाहिए।’ आपने जेब से पाँच रुपये का एक नोट निकाला और उसके हाथ पर रख दिया, शिकारे वाले ने सोचा कि दस का नोट और देंगे, पर जब वे चलने लगे तो उसने दस और माँगे। (तब तो दस ही किये थे, पर मेहनत बहुत हो गयी थी।) तब गोप साहब बोले, ‘अरे जाओ यार, एक रुपया ज़्यादा दे दिया, पिछले इतवार हम चार रुपये में गये थे।’

“चार रुपये तो बाबू जी नेहरू पार्क तक के ले लेते हैं, आपको तो सारी दुनिया घुमा दी।” शिकारेवाला गुस्से में बोला।

काफ़ी खिट-खिट हुई, पर भल्ला साहब टस से मस न हुए। बाज़ार निकट, बाँध पर काफ़ी लोग इकट्ठे हो गये। तब साली साहब ने ब्लाउज़ से दो रुपये का नोट निकालकर फेंकते हुए नक्की आवाज़ में कहा—‘ये लो बखशीश, अब जाओ।’

वह कैसे जाता। उसने भल्ला साहब की आस्तीन पकड़ ली। बड़ी बेशर्मी से भल्ला साहब बोले, ‘हमारे पास कुछ नहीं है, तुम चाहे जो कर लो।’ और उन्होंने पतलून की जेबें बाहर निकाल दीं।

मेरे लिए खड़े रहना मुश्किल हो गया। जेब से तीन रुपये निकालकर मैंने उसे दिये और पीछा छोड़ा।

घर पहुँचकर गोप साहब मुझसे कहने लगे—“आपने नाहक पैसे दिये। पतलून की जेबें खाली थीं, पर कोट के भीतर की जेबों में पाँच

सौ के नोट थे। ये साले मुसाफ़िरों को लूटते हैं। आप बीच में न पड़ते तो वह चुपचाप चला जाता।”

हम लिह्र के दूसरे पुल पर आ पहुँचे थे। काश्मीरी गूजरों का एक दल उधर से चला आ रहा था—लम्बे-लम्बे फ़िरन और नंगी टाँगें। एक युवा स्त्री—बड़ी ही सुन्दर, पर बड़ी गन्दी और मैली—खुले आम अपनी नंगी छाती बच्चे के मुँह में दिये धड़धड़ाती चली आ रही थी। शायद कहीं काम लग रहा था और सब वहीं जा रहे थे।

उन्हें रास्ता देने के लिए हम एक ओर खड़े हो गये। चोपड़ा साहब ने अपनी कहानी का तार फिर पकड़ा—

“पहलगाँव होटल में जाने वाले होते तो क्या गुरुद्वार में ठहरते,” वे बोले, “दूसरे ही दिन कहने लगे, ‘हम जा रहे हैं।’ मैंने कहा कि आप तो बीस दिन ठहरने वाले थे। बेपरवाही से वे बोले—‘पहलगाँव होटल में कमरा तो ले लिया था, रहने का सब तय हो गया था, लेकिन रात अचानक मिसेज़ के पेट में दर्द हो गया। मुझे भी कुछ तकलीफ़ रही। यहाँ का पानी हमें सूट नहीं करता।’....और बीस दिन के प्रोग्राम को काटकर वापस चले गये।”

“लेकिन लगते तो अच्छे-खासे सेठ हैं।” मैंने कहा।

“सेठ तो हैं ही। दिल्ली में इनका अपना एक मकान है, अभी पिछले साल पचास हजार में बनवाया है। हमारी ही कॉलोनी में है, हमारे ही मकान जितना बड़ा है।”

“आपका भी मकान है?”

“जी हाँ, पटेलनगर में बनवाया है, पैंतालीस हजार में। ऊपर हम रहते हैं, नीचे का हिस्सा दो सौ रुपये में उठा रखा है।”

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

गूजरों के निकल जाने पर हमने पुल पार किया। पुल के पार, किनारे पर कुछ लोग कपड़े धो रहे थे, कुछ तेल की मालिश कर रहे या नहा रहे थे। इधर खैमे नहीं थे, लेकिन नहाने और कपड़े धोने वालों की खासी भीड़ थी। चोपड़ा साहब ने बताया कि वे कहाँ नहाते और कहाँ कपड़े धोते हैं। उन्होंने मुझे भी परामर्श दिया कि हम भी वहीं आकर नहायें और कपड़े धोयें।

“पर धोबी दो आने फी कपड़ा लेते हैं,” मैंने कहा, “और यही रेट दिल्ली में भी है।”

“अजी आर्टिस्ट साहब, ये लोग ब्लीचिंग पाउडर लगाते हैं,” चोपड़ा साहब ने बड़े उस्तादाना ढंग से मेरी ओर देखते हुए कहा— “कपड़े की उमर घट जाती है। हम तो दिल्ली में भी नहीं धुलवाते। घर ही पर धोकर प्रेस कर लेते हैं।”

वज़ीर होटल के पास उन्होंने छुट्टी चाही। हाथ मिलाते हुए मैंने पूछा, “और कब तक रहने का इरादा है?”

बोले, “हम तो दो-चार दिन के लिए ही आये थे, पर इन मित्र से घर वाला सम्बन्ध हो गया है, जाने ही नहीं देते। खयाल है सात-आठ दिन और रहेंगे। सोचते हैं, कोई अच्छा साथी मिल जाय तो अमरमाथ और कोलाहाई ग्लेशियर तक हो आयँ।”

शाम को हम बाहर जाने वाले थे कि चोपड़ा साहब के मित्र, विज़िटर्स ब्यूरो वाले आर्टिस्ट आ गये—बड़े सज्जन और बड़े भले। उन्होंने अपने कुछ चित्र दिखाये, मुझसे राय ली। बातों-बातों में चोपड़ा साहब का ज़िक्र हो आया। मैंने कहा, “वे आपके स्वभाव की बड़ी प्रशंसा करते थे।”

दालिये

तब अचानक वे फट पड़े, बोले, “मैं तो आपसे इसी सिलसिले में मिलने आया था। ग़रीब आदमी हूँ। दो-एक कमरे सीज़न में किराये पर देता हूँ तो घर का खर्च चलता है। ये साहब मेरे अफ़सर को लेकर आये कि दो दिन रहेंगे। सात दिन हो गये हैं, हिलने का नाम ही नहीं लेते। इशारे करता हूँ, समझते नहीं। आप हो राय दीजिए कैसे इनसे मुक्ति पाऊँ।”

वेपा के नगर में

मद्रास जाते समय विजयवाड़ा की नहरों, पुलों और पार्श्व-भूमि में छोटी-छोटी पहाड़ियों की जो झलक मैंने गाड़ी के डिब्बे से देखी, वह मेरे मन पर कुछ ऐसे अंकित हो गयी कि मैंने तय कर लिया, वापसी पर, यदि हुआ तो एक दिन के लिए जरूर विजयवाड़ा उतरूँगा।

लेकिन विजयवाड़ा की नहरों, पुलों के सौंदर्य के अतिरिक्त एक और बात थी जिसके कारण वापसी पर वहाँ उतरना मेरे लिए अनिवार्य-सा हो गया। गाड़ी विजयवाड़ा से चली ही थी और मेरा डिब्बा अपेक्षाकृत खाली था कि एक पतला छुरहरा, एहसास भरी आँखों वाला युवक भाग कर डिब्बे में सवार हुआ और मेरे सामने की बथ पर आ बैठा। मैं गाड़ी के उस लम्बे सफर से ऊब गया था, इसलिए गाड़ी जब विजयवाड़ा से चली तो मैं उससे बात करने लगा। स्टेशन के बाद ही कृष्णा का पुल पड़ा। परे बाँध पर कुछ काम हो रहा था। मैंने उससे पूछा, “यह क्या है?”

“ऐनीकट बन रहा है।” उसने अंग्रेजी में उत्तर दिया।

वेपा के नगर में

हालांकि मैं एल-एल० बी तक पढ़ा हूँ और बाद में भी पढ़ता ही रहा हूँ, लेकिन अजीब बात है कि यह शब्द मैंने पहली बार सुना।

“ऐनीकट ! ह्याट इज़ एन ऐनीकट ?” मैंने उससे पूछा।

युवक हिन्दी न जानता था, इसलिए वह फौरन नहीं बता पाया। लेकिन ऐनीकट मैंने गड़ी से देखा था और उसने समझा कर जो बताया उससे मैं समझ गया कि विजयवाड़ा में कृष्णा नदी पर एक बाँध बना हुआ है, जिससे दो नहरें निकलती हैं और कृष्णा जिले को सैराव करती हैं। और इसी बाँध को ऐनीकट कहते हैं।

“ऐनीकट नये सिरे से क्यों बन रहा है ? पहले क्या कच्चा बना था ?” मैंने अंग्रेज़ी में पूछा।

“नहीं, बना तो पक्का था। लेकिन बहुत पुराना था और एक जगह से कट गया था। यहीं चीफ़ इंजीनियर वेपा कृष्णमूर्ति अपने सात साथियों समेत डूब गये थे।”

मेरी आँखों में उत्सुकता देखकर, युवक ने बड़े उत्साह से वेपा के उत्सर्ग की कहानी सुनायी। युवक की आँखों में वेपा का नाम आते ही जो चमक आ गयी, उसने मेरे फैसले को और भी पक्का कर दिया। और मैंने तय किया कि वापसी पर, आंध्र के धड़कते हुए दिल, वेपा के उस नगर विजयवाड़ा जरूर जाऊँगा।

गाड़ी सुबह विजयवाड़ा पहुँची। स्टेशन पर हिन्दी प्रचार विद्यालय के अध्यक्ष तथा अध्यापक एक अन्य सज्जन के साथ आये हुए थे। लेकिन मेरी आँखें सुब्वाराव को ढूँढ़ रही थीं। सुब्वाराव तेलगू के युवक उपन्यासकार तथा नाटककार हैं। मैं मद्रास में रेडियो स्टेशन के डायरेक्टर श्री सूर्यनारायण मूर्ति के यहाँ ठहरा था। उनसे जब मैंने विजयवाड़ा

जाने और वहाँ का एनीकट देखने की इच्छा प्रकट की थी तो उन्होंने सुब्बाराव का परिचय दिया था और उन्हें पत्र भी दिया था। सुब्बाराव बीमार थे और उन्होंने जिस आदमी को मुझे लेने भेजा था वह गाड़ी जाने के दो घंटे बाद तक वेटिंग रूम में बैठा मेरा इन्तज़ार करता रहा।

मूर्ति साहब ने मुझसे वेटिंग-रूम में सुब्बाराव की प्रतीक्षा करने को कहा था। लेकिन स्टेशन पर दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष पहुँच गये और मैं प्लेटफार्म पर सुब्बाराव को देखकर और उन्हें कहीं न पाकर, मैं प्रचार सभा वालों के साथ चल दिया।

ऑटो रिक्शा पर सवार होकर हम नहरों और गन्दे नाले के पुल को पार करते हुए, जाँ चौड़ाई में नहर जैसा लगता है, शहर के बाहर, 'हिन्दी प्रचार विद्यालय' पहुँचे। विद्यालय को जाती हुई सड़क, नहरों के मेहराबदार पुलों पर से होती हुई शहर के बाहर पहाड़ी के नीचे-नीचे गयी है। पुलों की मेहराबें गाड़ी के डिब्बे ही से नहीं, सड़क पर से भी बड़ी भली लग रही थीं। पहाड़ी, रुंड-मुंड, लाल-पीली, पथरीली थी। वैसी कई छोटी-छोटी पहाड़ियाँ उस क्षेत्र में बिखरी हुई हैं। रिक्शा पर बैठे-बैठे मैंने देखा, मज़दूर पहाड़ खोदकर पत्थर निकाल रहे थे। सड़क से ज़रा ऊपर पहाड़ी का एक हिस्सा बिलकुल साफ़ हो गया था। 'जाने कब इंसान के हाथ इस सारी पहाड़ी को एकदम साफ़ कर देंगे ? और मेरे जैसा कोई कवि सौ-दो-सौ साल बाद जब यहाँ से गुज़रेगा तो इस पहाड़ी की जगह सपाट मैदान, गगनचुम्बी इमारतें या बम्बई के हैंगिंग गार्डन जैसा कोई बाग़ पायेगा,' मैं सोचने लगा और हृदय से अनायास एक लम्बी साँस निकल गयी, क्योंकि सहसा दो सौ साल बाद उस पहाड़ी को न पाने वाला कवि भी मैं ही बन गया था। लेकिन रिक्शा सड़क के एक ओर रुक गया था। हम शहर से दूर निकल आये

*** वेपा के नगर में

थे और बायीं ओर परे खेतों में प्रचार विद्यालय की छोटी सी इमारत दिखायी दे रही थी ।

विद्यालय के अध्यक्ष को मेरे खाने की बड़ी चिन्ता थी । उन्होंने लाहौर में हिन्दी की शिक्षा पायी थी, वहीं से वे मुझे जानते थे । उन्होंने चाहा कि वे मेरे लिए पंजाबी ढंग से खाने का प्रबन्ध करें, पर मैंने उन्हें रोक दिया, 'मिर्च ज्यादा मत डालिए, और सब चल जायगा ।' मैंने कहा, 'मद्रास में सात-दस दिन रहने के बाद मैं मद्रासी खाना पसन्द करने लगा हूँ ।' वे बड़े प्रसन्न हुए । मैंने वहीं छात्रावास में छात्रों के साथ मिलकर केले के पत्तों पर मद्रासी ढंग से खाना खाया । फिर मैंने अध्यक्ष महोदय से कहा कि वे मुझे सुब्बाराव जी से मिलाने ।

सुब्बाराव व्यक्तिवादी कलाकार हैं । प्रगतिवाद में प्रचार का जो अंश है, इससे वे अन्य व्यक्तिवादियों की तरह घबराते हैं । चाय उन्होंने मँगायी और अपने एक नाटक का कथानक उन्होंने मुझे सुनाया । चूँकि ऐनीकट देखने का समय हो चुका था और मुझे विजयवाड़ा के लेखकों की एक मीटिंग में जाना था, इसलिए तय हुआ कि खाना दूसरे दिन मैं सुब्बाराव के साथ ही खाऊँ और वे ही मेरे ऐनीकट देखने का प्रबन्ध कर दें ।

दूसरे दिन दोपहर का खाना सुब्बाराव के यहाँ खाया । इसके बाद हम हिन्दी और तेलगू नाटक पर विचार-विनिमय करते रहे । तीन बजे उनके एक एडवोकेट मित्र आये । सुब्बाराव ने मुझे उनके साथ कर दिया और वे अपनी कार में लेकर मुझे ऐनीकट दिखाने ले चले । ऐनीकट के किनारे पहुँचकर कार रोक दी गयी और हम पैदल वहीं चले जहाँ मजदूर लगे हुए थे ।

कृष्णा बरसाती नदी है । बम्बई प्रांत की ग्रीष्म राजधानी, प्रांत के

अन्यतम स्वास्थ्यकर स्थान महाबलेश्वर के छोटे से मन्दिर में कामधेनु मुख से एक झरना नीचे तालाब में गिरता है, यही कृष्णा नदी का उद्गम-स्थान कहलाता है। वह पतला-सा झरना इतनी बड़ी नदी बन जायगा, कम-से-कम मन्दिर में उस पतली धार को देखकर इसकी तनिक भी कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन सात सौ पचहत्तर मील चलकर छत्रप्रभा, मालाप्रभा, तुंगभद्रा-सी सहायक नदियों को साथ लेकर पूर्वी घाट तक पहुँचते-पहुँचते कृष्णा कैसा विकराल रूप धर लेती है, उसकी बात यदि न भी कहें तो बरसात के दिनों में महाबलेश्वर से केवल १० मील नीचे 'वाई' में इसकी छटा देखने योग्य होती है, जब यह किनारे के घाटों की सीढ़ियाँ और मन्दिरों की ऊँची बुनियादों को डुबा देती है और ऐसे वेग से बहती है कि पुल के नीचे आँखें नहीं ठहरती। जून से अक्टूबर तक यह मिश्र के महानद नील से दुगुनी मात्रा में पानी विजयवाड़ा के ऐनीकट से बहा देती है।

लेकिन इतने पानी के बावजूद कृष्णा घाटी की अधिकांश धरती बंजर रह जाती है और सदा अकाल-पीड़ित रहती है। इसलिए बम्बई, मैसूर, हैदराबाद और आंध्र में इसके पानी का प्रयोग करने के लिए होड़ लगी रहती है।

लेकिन उस वक्त जनवरी का महीना था और अक्टूबर के बाद कृष्णा का पानी कम हाँते-होते इतना रह जाता है कि अगर नहरों के गेट खोल दिये जायँ तो पानी बाँध के नीचे नहीं उतर पाता। नहरों के गेट पूरे न खुले थे और पानी बाँध के ऊपर आ रहा था, जिसे दायीं ओर किनारे के साथ छोटा-सा रजबहा बनाकर छोड़ा गया था। बाकी सारी नदी सूखी पड़ी थी और काम जारी था। क्रेन और बायलर और हैमर्स अपना काम कर रहे थे। बड़े-बड़े सीमेंट के चौकोर टुकड़े बनाये जा रहे थे।

*** वेपा के नगर में

जहाँ से बाँध टूटा था वहाँ दबे हुए पंट क्रेनों की मदद से निकाले जा रहे थे और नदी के इस ओर जो पानी आ रहा था उसे पम्प किया जा रहा था ।

सुब्बाराव के एडवोकेट मित्र ने वहाँ के एक असिस्टेंट इंजीनियर को साथ लिया और वे कृष्णा नदी की महत्ता बताते हुए, वहाँ होने वाले काम के बारे में मेरी जिज्ञासा शांत करते हुए मुझे उस जगह ले गये, जहाँ बाँध टूटा था और वेपा कृष्णमूर्ति अपने सात साथियों समेत कृष्णा के विकराल वेग में बह गये थे । ऐन उस जगह खड़े होकर जहाँ पत्थरों से लदे स्तर फीट लम्बे और चालिस फीट चौड़े लोहे के मुहीब पंट तुड़े-मुड़े पड़े थे, असिस्टेंट इंजीनियर ने वेपा के उत्सर्ग की कहानी बतायी ।

वेपा प्रांत के प्रसिद्ध इंजीनियर थे और अभी वे ४० वर्ष के न हुए थे कि चीफ़ इंजीनियर के पद पर पहुँच गये थे । बाँध की हालत को देखकर उन्होंने एक वर्ष पहले ही से चेतावनी दे दी थी कि अगर उस की मरम्मत न की गयी तो बरसाती कृष्णा के विकराल वेग को बाँध न सह सकेगा । और उन्होंने उसके मरम्मत की स्कीम रखी थी । स्कीम पर अभी विचार ही हो रहा था कि बरसात का मौसम आ गया और कृष्णा अपनी सहायक नदियों के पानी को लिये हुए ठाठें मारती हुई बह निकली ।

शाम का वक्त था, वेपा दिन भर के काम से थके चाय पर बैठे थे कि उनके असिस्टेंट ने आकर खबर दी—नदी का पानी खतरनाक हद तक बढ़ गया है और बाँध में एक जगह भँवर पड़ रहा है ।

भँवर पड़ रहा है ! वेपा ने चाय का प्याला मेज़ पर रख दिया ।

कहानी लेखिका और जेहन्नाम के सात पुत्र

उन्हें भय था, इसीलिए उन्होंने चौबीस घंटे का पहरा बाँध पर लगा रखा था। स्टीमर में बैठे हुए लोग चौबीस घंटे दूरबीनों और टाचों की सहायता से बाँध की स्थिति को देखते थे। भँवर पड़ रहा है ! मतलब है कि बाँध में दरार आ गयी है। वे चाय छोड़कर उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने दूसरे असिस्टेंटों को तलब किया।

कुछ क्षणों में उनके असिस्टेंट उनके गिर्द आ इकट्ठे हुए।

“ऐनीकट में दरार पड़ गयी है। हमें तत्काल उसकी मरम्मत करा लेनी चाहिए।” वेपा ने कहा।

“लेकिन सर, शाम होने को है, ख़तरे की जगह है, कल सुबह....”

“कल सुबह तो सारा कृष्णा ज़िला बह जायगा।” वेपा ने उत्तर दिया और कमरे के बाहर निकल गये। असिस्टेंट उनके पीछे-पीछे चले।

वेपा के सम्मुख कृष्णा की नहरों से सींची मीलों तक लहलहाती फ़सलें और बाँध तोड़कर उन्हें लील जाने के लिए ठाठें मारता, दहाड़ता, तूफ़ान पर आयी हुई नदी का मदमाता जल घूम गया। क्या अपनी आँखों के सामने यह सब तबाही वे देख सकेंगे ? समय रहते वे क्या उसे रोकने का भरसक प्रयास न करेंगे। और घटना-स्थल पर पहुँचकर अपने साथियों के रोकने के बावजूद उन्होंने उसी समय बाँध की मरम्मत का फ़ैसला किया।

बायें किनारे एक स्टीमर खड़ा किया गया। रस्सों और जंजीरों की मदद से उसके साथ पंट बाँधकर उसे उस जगह पहुँचाया गया जहाँ भँवर पड़ रहा था। तब दूसरे स्टीमर में पत्थर लाकर पंट को ऊपर तक भरा गया और फिर भँवर की जगह डुबा दिया गया। दो पंट इसी तरह डुबाये जा चुके थे और तीसरा भरा जा रहा था,

वेपा के नगर में

वेपा अपने साथियों के साथ उसके ऊपर खड़े थे कि दूसरा स्टीमर पत्थर लेकर आया। आँधरे की वजह से या दुर्भाग्यवश, वह उसके पास रुकने के बदले पंट से टकरा गया। एक तो तूफानी नदी का जोर, दूसरे स्टीमर का धक्का, पंट के रस्से और जंजीरों एक भटके से टूट गयीं। वेपा क्रुद्ध, लेकिन घबराहट में स्टीमर के कप्तान ने उसे पीछे कर लिया। वेपा दरिया में गिरे और दूसरे क्षण बाँध के ऊपर से उछलते पानी में बह गये। उनके दूसरे सातों साथियों का भी वही इश्र हुआ। दूसरे दिन उनकी लाशें नीचे सीता के मन्दिर के पास मिलीं।

असिस्टेंट इंजीनियर की बात सुनते-सुनते अचानक मेरी आँखों के सामने उस युवक की सूरत घूम गयी, जिसने गाड़ी के डिब्बे में पहले-पहल मुझे वेपा के उत्सर्ग की कहानी सुनायी थी। असिस्टेंट इंजीनियर की आँखों में भी उसी युवक की आँखों-की-सी चमक थी।

वेपा और उनके साथियों के वीरगति प्राप्त करने की दुखद सूचना जैसे पलक झपकते सारे शहर और फिर सारे प्रांत में फैल गयी। सुबह होते न होते दूसरे इंजीनियर घटना-स्थल पर जा पहुँचे। दरार बहुत बड़ी हो चुकी थी। उतने बड़े लम्बे-चौड़े, ३६ पंट सीमेंट के बोरो और पत्थरों से भरकर वहाँ डुबाये गये, तब जाकर बाँध की रक्षा हुई।

लेकिन वेपा की मृत्यु अकारण नहीं गयी। वह स्कीम, जिसे शायद स्वीकृत होने में बरसों लग जाते, तत्काल पास हो गयी। और अब न केवल सारे बाँध की मरम्मत हो रही थी, बल्कि विजयवाड़ा-वासियों के लिए नदी के आर-पार जाने को उसके ऊपर एक पुल

बनाया जा रहा था। दस लाख रुपये की स्वीकृति हो गयी थी, ५००० मजदूर लगे हुए थे और १०,००० रुपये रोज खर्च हो रहे थे। वेपा और उनके साथियों के उत्सर्ग के कारण विजयवाड़ा-वासियों का चिर-दिन का कष्ट मिटने जा रहा था और अगणित लोग उस जगह को देखने आते थे।

विजयवाड़ा एक ही रात ठहरने का प्रोग्राम था। दूसरी सुबह मुझे वर्धा पहुँचना था। सुब्बाराव को मैं सीटें बुक कराने को कह आया था। असिस्टेंट इंजीनियर को धन्यवाद देकर हम कार से विद्यालय पहुँचे। सामान तैयार था, कार में रखा और हम पौने छः बजे स्टेशन पहुँच गये।

रात जब मैं अपनी सीट पर लेटा तो वेपा के उत्सर्ग की घटना नृत्तिमान होकर पुनः मेरी कल्पना के पर्दे पर चित्रित हो उठी।

— — —

मौसी

“मौसी सुस्त है, मौसी भुलक्कड़ है, मौसी वज्र-मूर्ख है, मौसी सुनती नहीं, मौसी के मारे जान आफ़त में है.....”

और मैं अपनी बीवी की हॉ-में-हॉ मिलाते हुए मौसी की और भी ऐसी ‘खूबियों’ की ओर संकेत करता हूँ, जिन पर पत्नी की दृष्टि नहीं जाती कि वह घोर गर्मी में भी अपनी कोठरी में सोती है, साबुन देने पर भी कपड़ें नहीं धोती, लाख चिल्लाओ, उत्तर नहीं देती और अपनी उसी मन्थर गति से चले जाती है.....

“तो इसे निकालकर ढंग का नौकर क्यों नहीं रखते ?” सहसा पत्नी मेरी बात काटकर ताना देती है।

और मेरा सारा जोश टंडा पड़ जाता है। मैं चुप हो जाता हूँ। बात का पहलू बदलने की कोशिश करता हूँ या चुपचाप वहाँ से खिसक जाता हूँ।

मौसी मझोले कद और दोहरे बदन की अत्यन्त काली और कुरूप स्त्री है। दांत उसके तम्बाकू खाते-खाते घिस गये हैं और सुस्त इतनी है कि पाँच मिनट का काम आधे घंटे में करती है। साधारणतः मैं ऐसा

मौसी

नौकर कभी न रखता, पर विभाजनोपरान्त अपनी बीमारी से किसी तरह बचकर जब इलाहाबाद आया तो जिस प्रकार महुँगे किराये का मकान लेने की सकत न थी, उसी प्रकार महुँगा नौकर रखने का हौसला न था। तीन महीने की दौड़-धूप के बाद, खुसरोबाग के निकट एक बंगले के पिछवाड़े, एक छोटी-सी कॉटेज मिली। मौसी उसी के बराबर सर्वेण्ट्स क्वार्टर्ज़ में रहता थी। बेकार थी। सात रुपये महीने पर काम करने को तैयार हो गयी। उसका भानजा जो बंगले के मालिक के यहाँ बावर्ची था, उसे मौसी कहकर पुकारता था, इसलिए हम सब भी उसे मौसी ही कहने लगे।

इन आठ बरसों में धीरे-धीरे यद्यपि मकान तो बढ़कर ग्यारह कमरों का हो गया, बावर्ची नया नहीं आया। मौसी बदस्तूर मौजूद है। पगार उसकी तिगुनी हो गयी है, पर काम वह और भी ढीला करने लगी है। कई बार उसकी सहायता को नौकरानी रखी है, पर किसी दूसरे को वह किचन में फटकने नहीं देती और स्वयं ठीक से काम नहीं करती।

हमारी चिल्लाहट अथवा झल्लाहट का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। अपनी गति को वह रंचमात्र नहीं बदलती और मौनरूप तथा मन्थर-गति से काम किये जाती है। कभी जब ज़बान खोलती भी है तो हमारे चिल्लाने या शोर मचाने का उसके उत्तर में कोई प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता—न आम नौकरों के स्वर में झलकनेवाली खीझ, न क्रोध, न चिड़चिड़ाहट, न गुस्ताखी !

“.....मौसी यह आज तूने फिर अचार नहीं रखा।” मैं लंच के वक्त चिल्लाता हूँ, “तुझसे बीस बार कहा है कि खाने को उस वक्त

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

बुलाया कर, जब सब कुछ मेज़ पर रख दिया हो। अब जितने में तू अचार रखेगी, मैं आधा खाना खत्म कर दूँगा।”

“भुलाय गये भइय्ये।” और वह डोली से अचार की प्लेट निकालती है, लेकिन प्रायः प्लेट में अचार खत्म होता है और वह स्टोर से लाने जाती है और जब आधे घंटे बाद अचार लेकर लौटती है तो मैं उठ चुका होता हूँ।

“.....मौसी, यह तूने फिर प्लेटें गीली ही मेज़ पर रख दीं, तुझसे बीस बार कहा है, भाड़न ला-लाकर दिये हैं, पर तू कभी नहीं पोंछती।” मेरी पत्नी कहती है।

“पोंछत तो हैं बहू!”

बहू का पारा चढ़ जाता है। “यह पोंछी है। देख, यह पोंछी है।” और वह गीली प्लेट उसकी आँखों के आगे करती है।

मौसी खामोशी से प्लेट ले लेती है। “ऐ के हमके दइ दे, तू दूसर लइ ले।” यह कहते हुए वह दूसरी प्लेट पत्नी को दे देती है।

“.....मौसी, तीन-चार दिन हुए फल लाया था। एक दिन खाये फिर तूने मेज़ पर नहीं रखे।”

“अरे तो भइय्ये, का हम खाय गये।”

“तो निकाल!”

लेकिन फल सड़ चुके होते हैं और मैं चिल्लाता हूँ कि हमें देना भूल गयी थी तो खुद ही खा लेती। अब ये किस के काम आयेंगे?”

वह कुछ नहीं कहती। जाकर उन्हें कूड़े की टोकरी में डाल आती है।

“....मौसी !....मौसी !”....

मेरी पत्नी अचानक सालन परोसते-परोसते उठकर चिल्लाती है।

मौसी कोई आवाज़ नहीं देती।

“....मौसी !....मौसी !”....

कई बार चिल्लाने पर मौसी मन्थर गति से भूमती-भ्रामती किचन से आती है।

“कानों में क्या रूई डालकर बैठी है, इतनी आवाज़ें दीं। जवाब क्यों नहीं देती ?”

“अरे आवत तो रहे बहू।”

“आवत तो रहे बहू !” पत्नी आँखें तरेरती और मुँह बनाती है,
“ओठ क्या सी रखे है ? कहा नहीं जाता कि आ रहे हैं।”

इस सब का वह कुछ उत्तर नहीं देती। तम्बाकू का रस पपोलते हुए ठोड़ी को ज़रा आगे बढ़ाकर केवल धीरे से इतना पूछती है, “का कहत हो ?”

“कहते हैं तेरा सिर।” पत्नी भुल्लाती है। यह आज फिर नमक नहीं डाला तरकारी में। कितनी बार कहा है कि अलग कटोरी में डालकर चख लिया कर।”

“अरे बहू डाले तो रहे।”

“डाले तो रहे ! तो क्या हमने उड़ा दिया। ले, खाकर देख, है रक्ती भर भी ?” और वह सालन का डोंगा उसके आगे करती है।

मौसी अप्रतिभ नहीं होती। सिर को अजीब भुल्लकड़ ढंग से हिलाते हुए कहती है। “डाले तो रहे, कमती हुई गया होई।”

अब मैं चिल्लाता हूँ। “कमती क्या, ज़रा भी नहीं। एकदम फीका है।”

“तो भुलाय गये होई भइये ।”

और वह चुन्चाप साइडबोर्ड से नमकदानी उठाकर हमारे आगे रख देती है ।

और यह सब रोज़ होता है । अचार रखा हो, प्लेटें साफ़ हों, फल ठीक हों, नमक कम न हो तो सुराही में पानी न होगा, रोटी पपड़ी-सी सूखी होगी; रायता बनाकर रखा होगा, पर देना भूल गयी होगी; दूध न जमाये जाने के कारण फट गया होगा, या कुछ और गड़बड़ कर रखी होगी । साधारणतः एक-आध बार चिल्लाकर अथवा चिल्लाना बेकार समझ मन-ही-मन खीझकर हम चुप हो जाते हैं और अपने काम में लग जाते हैं । लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता कि हमारे सब्र का प्याला लयालब भरकर छलक उठता और मस्तिष्क संतुलन खो बैठता है । व्यर्थ जानते हुए भी हम चिल्लाये जाते हैं ।

.....दफ़्तर घर ही में है । पत्नी प्रकाशन का सारा काम सम्हालती है, पर कई बार मुझे उसके साथ जाना पड़ता है । समय की पाबन्दी नहीं रहती । कोई किताब छपने वाली है । हम कागज़ और प्रेस की व्यवस्था करने बाहर गये हुए हैं । आते-आते डेढ़-दो बज जाते हैं । भूख के मारे पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं । बीमारी के बाद मैं तो कुछ ऐसा कमज़ोर हो गया हूँ कि समय से खाना न खाऊँ और भूख लग आये तो कुछ सुझाई नहीं देता । वे दिन जब यार-दोस्तों में बैठे गप्पें लगाते सुबह से शाम हो जाती थी और खाने की सुधि तक न रहती थी या कोई रोचक उपन्यास खाने की याद भुला देता था, अब हवा हो गये हैं । रिक़शा में घर लौटते हुए खाने का कमरा और मेज़ पर लगी प्लेटें और सालन की सुगन्ध मन-मस्तिष्क को घेर लेती है ।

मौसी

रिक्शा से उतरते ही चिल्लाता हूँ, “मौसी खाना रखो !”

“रक्खीथ हैं भइय्ये ।”

खाना रखा जाता है । हम खाने बैठते हैं, लेकिन अभी आधा खत्म नहीं करते कि अचानक मालूम होता है, रोटियाँ खत्म हो गयी हैं ।

“मौसी,” मैं या पत्नी चिल्लाती है, “रोटियाँ पूरी नहीं पकायीं ?”

“गर्म-गर्म लाये रहे हैं ।” वह किचन ही से चिल्लाती है ।

और सहसा खाने का सब मज़ा किरकिरा हो जाता है, क्योंकि मौसी के ‘गर्म-गर्म रोटियाँ लाने’ का मतलब हम दोनों बखूबी समझते हैं ।

पत्नी चिल्लाती है कि जब दो बज गये थे तो उसने सब पका-उकाकर क्यों नहीं रखीं ?

और मैं कड़कता हूँ कि वह बार-बार क्यों एक ही बात कहलवाती है, क्यों बात उसकी समझ में नहीं आती, गर्मी में अन्दर सोती है, उसके भेजे में अकल रह कैसे सकती है....

और पन्द्रह-बीस मिनट तक चिल्लाकर और प्रतीक्षा करके थक-हारकर, हम खाना बीच ही में छोड़, रसोई-घर में जाते हैं तो देखते हैं कि मौसी एक हाथ से आटा सान रही है और दूसरे से अँगीठी को हवा कर रही है ।

“तूने रोटी न पकायी थी तो आटा क्यों नहीं साना ?” पत्नी चिल्लाती है ।

“अब आग जलाने बैठी है,” मैं गर्जता हूँ, “अढ़ाई बज गये हैं गर्म रोटियाँ खिलानी थीं तो अँगीठी तो गर्म रखती ।”

लेकिन मौसी हमारी कड़क और गर्ज का कोई उत्तर नहीं देती ।”

“हुई जात है, हुई जात है,” ओठों से हमें तसल्ली देते हुए वह उसी तरह एक हाथ से आठा सानती हुई दूसरे से पंखा किये जाती है।

हम भल्लाये हुए वापस खाने की मेज़ पर आ बैठते हैं। मौसी के खिलाफ़ शिकायतों के दफ़्तर खुल जाते हैं और तान आखिर पत्नी की इसी बात पर टूटती है—

“कोई ढंग का नौकर रखा। इस कम्बख़्त के मारे तो जान आफ़त में है।”

और मेरी सारी भल्लाहट सहसा ख़त्म हो जाती है। क्रोध को दबाकर मैं चुप हो जाता हूँ।

पत्नी तौना देती है कि मैं मौसी से दबता हूँ। नया बावर्ची रखना नहीं चाहता।

मैं मौन रहता हूँ और मौन आप जानते हैं आर्धा स्वकारोक्ति के बराबर है।

.....कभी ऐसा भी होता है कि बेड-टी (Bed Tea) के बाद नाश्ता भी हो चुका होता है और मौसी दोपहर के खाने की सबील करने में मगन होती है कि कोई मित्र मिलने आ जाता है और मैं शिष्टाचारवश पूछ बैठता हूँ कि भाई चाय का प्याला आये ?

“क्या हर्ज है ?” मित्र उत्तर देता है।

और मैं वहीं से चिल्लाकर कहता हूँ, “मौसी दो प्याला चाय लाओ !”

और उस वक्त जब बातों का सिलसिला बड़े ज़ोरों से चल रहा होता है और मित्र ही का नहीं मेरा भी ध्यान किचन की तरफ़ लगा होता है कि चाय आ जाय, एक-एक प्याला पी लिया जाय तो बात-

*** मौसी

चीत या वाद-विवाद में कुछ गर्मी आये कि मौसी ट्रे में चाय लिये अपनी उसी मन्थर गति से आती है। मैं उसके हाथ से ट्रे लेता हूँ। लगातार बातें करते हुए पहले ज़रा सी चाय डालकर प्याले गर्म करता हूँ, फिर चाय का पानी प्यालों में डालकर अपने में एक और मित्र के प्याले में, उससे पूछकर, एक या दो चमच चीनी डालता हूँ, लेकिन जब दूध का जग उठाने को हाथ बढ़ाता हूँ तो देखता हूँ कि जग नदारद है।

“ऐ मौसी !” चिढ़कर मैं चिल्लाता हूँ।

मौसी वही मैली धोती पहने, निचले ओठ में सुरती दबाये, निहायत इत्मीनान से, किसी तरह के जल्दी किये बगैर आती है और खैनी से निचला ओठ भरा होने के कारण ठोड़ी ज़रा उठाकर पूछती है कि क्या बात है ?

“दूध नहीं लायी ?” मैं चिल्लाता हूँ।

“ऐ दूध कहाँ है भइय्ये।” मुँह ज़रा ऊपर उठाकर दोनों हाथ आगे को फैलाते हुए वह कहती है।

मैं निमिष भर उसकी ओर देखता हूँ। जी चाहता है कि उसका और अपना सिर नोच लूँ। कितनी बार समझाया है, लेकिन इस मूर्ख का अकल नहीं आयी कि मेहमान बैठा हो तो ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। लेकिन किसी तरह क्रोध को पीकर, संयम से काम लेकर, पूछता हूँ, “नहीं था तो चाय क्यों बनायी। क्या दूध के बिना पहले कभी चाय पी है, जो अब पियेंगे। चाय बनाने से पहले क्यों नहीं गाया दूध ?”

“किससे मँगाते भइय्ये ?”

अब संयम रख पाना असम्भव हो जाता है। क्रोध से चिल्ला

उठता हूँ, “क्या दफ़्तर में सब लोग मर गये हैं, चपरासी कहाँ है ?”

लेकिन मौसी इसका कोई उत्तर नहीं देती। चुपचाप तम्बाकू का रस पपोले जाती है।

“पुपी कहाँ है ?” मैं अपने सम्बन्धी लड़के के बारे में पूछता हूँ, जो मेरी पत्नी के साथ प्रकाशन का काम देखता है।

मौसी उत्तर नहीं देती। मुटर-मुटर तके जाती है।

“और कोई नहीं था तो तूने मुझसे क्यों नहीं कहा, मैं खुद जाकर बाज़ार से दूध ला देता। दूध नहीं था तो क्यों बनायी चाय ?”

मित्र लाख कहता है कि यार मैं चाय पीकर चला था, तुमने पूछा तो मैंने योही ‘हाँ’ कर दी, अब हटाओ इस किस्से को ! लेकिन मैं लगातार चिल्लाये जाता हूँ। गुस्सा इस बात का नहीं कि चाय क्यों बनी, बल्कि इस बात का है कि जब घर में दूध नहीं था तो क्यों बनी ? और यदि बन ही गयी थी और दूध के अभाव का पता बाद में चला था तो हमारे सामने क्यों आयी और मेहमान के सामने उसने क्यों कहा कि दूध नहीं है....और मैं चाय की ट्रे ठेल देता हूँ कि उठाओ और दनदनाता हुआ बाहर जाता हूँ और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता हूँ और चपरासी और पुपी और मेरी बीबी एक साथ दफ़्तर से बाहर निकल आते हैं और सब बात सुनकर मेरी पत्नी चपरासी को दूध लाने के लिए भेज देती है, आदेश देती है कि साइकिल पर जाय और पलक भपकते ले आये।

चपरासी को आदेश देकर पत्नी फिर अपने काम में जा लगती है और वापस आकर मैं फिर बातों का तार पकड़ने की कोशिश करता हूँ, लेकिन तनी हुई नसों के कारण बातें चल नहीं पातीं। बार-बार इस वज्र-मूर्ख नौकरानी पर क्रोध आता है।

उबकर मित्र कहता है, “अच्छा यार मैं चलता हूँ, फिर आऊँगा।”

“नहीं, नहीं बैठो, चाय पीकर जाना।” मैं आग्रह करता हूँ।

विवश होकर मित्र फिर बैठ जाता है। मैं इधर-उधर की बात चलाने का प्रयास करता हूँ। लेकिन बात चल नहीं पाती।

कि तभी चपरासी सीधा वहीं कमरे में दूध का लोटा ले आता है।

“मैं दूध क्या करूँगा ? उधर किचन में ले जा और मौसी से कह कि पानी गर्म करके नयी चाय बनाये और दूध भी गर्म करे।”

मित्र फिर एक बार कहने की कोशिश करता है....“हटाओ यार अब चाय....” लेकिन मैं हाथ बढ़ाकर ही उसे रोक देता हूँ।

“मौसी तो वहाँ नहीं।” चपरासी आकर खबर देता है।

“नहीं है तो देख कहाँ है ! तम्बाकू खाने गयी होगी। उसकी बहन से पूछ !”

और बरामदे में निकलकर मैं जोर से चिल्लाता हूँ....“मौसी”....
“मौसी !” और बेकली से वहीं बरामदे में इधर-से-उधर टहलता हूँ
और मित्र पछुताता है कि उसने चाय पीने के लिए क्यों हाँ कर दी।
मुफ्त की बोरियत मोल ले ली।

तभी चपरासी आकर बताता है, “मौसी बाहर गयी है।”

“बाहर गयी है ! क्यों बाहर गयी है ?” मैं चिल्लाता हूँ, “उसे मालूम नहीं था कि मैंने तुम्हें दूध लेने के लिए भेजा है।”

“अब हम का बतायी।” चपरासी बेबसी से कहता है।

मैं लोहू के घूँट भर रहा होता हूँ। बीबी दफ़्तर से काम छोड़कर स्वयं रसोई-घर में जाकर पानी चढ़ाती है कि मौसी बड़े इत्मीनान से, किसी तरह की जल्दी किये बगैर, उसी मन्थर गति से, भूमती-भामती बाहर से आती दिखायी देती है।

“मौसी तू किधर चली गयी थी ? तुझे मालूम नहीं था कि मेरे दोस्त आये हुए हैं और मैंने चपरासी को दूध के लिए भेजा है ।”

“अरे तो भइय्या बाहर गये रहे ।”

और वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें निकाले, कुमारी अंतरीप-सी ठोढ़ी आगे बढ़ाये, तम्बाकू भरे दाँत दिखाती हुई दोनों हाथ बढ़ा देती है ।

‘बाहर’ का मतलब मैं समझ जाता हूँ, पर मेरा क्रोध शांत नहीं होता ।

“बाहर गयी थी तो जाते-जाते पानी चढ़ा जाती ।” मैं चिल्लाता हूँ ।

मौसी ज़रा भी नहीं घबराती.... “चढ़ाये देत हैं....चढ़ाये देत हैं !” कहती हुई उसी मन्थर गति से, वह किचन की ओर चल देती है ।

शाम को मैं पत्नी से शिकायत करता हूँ तो वह उल्टा मुझे ही कोसने लगती है कि मैं कितनी बार कह चुकी हूँ, कोई ढंग का नौकर रखिए । इस कम्बख्त के मारे जान आफ़त में है । दूध चुक गया था या ग्वाला कम दे गया था तो मुझसे आकर कहती । मैं मँगा देती ।

और पत्नी मौसी की बुलाकर डाँटती है ।

“अब सारा दिन चाय बनात-बनात जान आफ़त में आ जात है ।” वह प्रोटेस्ट करती है ।

“सारा दिन चाय बनाने से, दूध न होने पर मेहमान के सामने भंडा फोड़ने का क्या सम्बन्ध है ?” मैं चिल्लाता हूँ ।

लेकिन यह बात मौसी की समझ में नहीं आती । वह रोने लगती

है कि उसे छुट्टी दे दी जाय, इतना काम करने पर भी उसे डॉट पड़ती है और पत्नी कहती है, “हाँ, आप दूसरा नौकर ढूँढ़िए।”

लेकिन यहीं मैं दब जाता हूँ, मेरा सारा क्रोध जैसे एकदम ठंडा पड़ जाता है और मैं पैतरा बदलकर उसे समझाने लगता हूँ कि छुट्टी देने-दिलाने की बात नहीं, उसे खुद खयाल रखना चाहिए कि मेहमान के सामने ऐसी बात कहने से घर की कैसी बेहज़ज़ती होती है आदि आदि.....

और ऐसे वक्त मेरे सामने हमेशा अपने एक मित्र की सूरत घूम जाती है। वे एक पंजाबी युवक हैं। चार-एक साल पहले कश्मीर में नियुक्त हुए हैं। मैं दो साल काश्मीर जाता रहा हूँ और उनके घर की हर गति-विधि से परिचित हूँ। शादी अभी उनकी हुई नहीं है, घर में केवल माँ और एक पंजाबी छोकरा है। माँ काश्मीरी भाषा ज़रा भी नहीं समझती। और वह छोकरा है कि सिनेमा का फ़र्स्टक्लास फ़्रैन है। सप्ताह में दो-तीन बार पिकचर नहीं देख लेता तो उसे खाना हज़म नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि उन्होंने चाय पर कुछ मित्र बुला रखे होते हैं, पर वह मैटनी देखने चला जाता है। उसके आते ही माँ-बेटा उस पर बरस पड़ते हैं। लेकिन वह माफ़ी माँगने या शेष काम निबटाने के बदले बाहर जाकर पनवाड़ी की दुकान पर बैठ जाता है। आध-एक घंटा तो माँ-बेटा झल्लाते रहते हैं। माँ कहती है कि जिनके नौकर नहीं होते उनका क्या काम नहीं चलता और बेटा निहायत दार्शनिक ढंग से घर के सब काम खुद करने के लाभ पर अपने अमूल्य विचार प्रकट करता है और दोनों माँ-बेटा प्रोग्राम बनाते हैं कि नौकर को हटाकर वे कैसे के घर सारे काम खुद करेंगे, बेटा कैसे एक

दिन पहले ही शाम को वे सब चीजें लाकर रख दिया करेगा जिनकी दूसरे दिन जरूरत होगी और माँ कैसे बिना नौकर के सहायता से काम चलायेगी....लेकिन मैंने सदा देखा कि जब रात का खाना पकता तो माँ नौकर के लिए बड़े प्यार से खाना पकाती और बेटे साहब उसे मनाकर लाते ।

मेरी दशा अपने उस पंजाबी मित्र से भिन्न नहीं । मेरी बीवी स्वयं खाना न पका सकती हो, यह बात नहीं । वह इतना अच्छा खाना पकाती है कि एक बार शादी के बाद मैंने सोचा था उसे दूसरा काम न करने दूँगा । लेकिन जो स्त्री मुख्य अध्यापिका के रूप में स्कूल का, जूनियर कमाण्डर के रूप में सैनिक विभाग का और प्रकाशक के रूप में एक प्रकाशन-गृह का सारा काम अपने कंधों पर ले सकने की क्षमता रखती हो, उसे किचन की गुलामी में फँसाये रखना, मेरे निकट अन्याय है । मैं स्वयं कोई काम न कर सकता होऊँ, यह बात भी नहीं । वर्षों घर में भाड़ू देने और कपड़े धोने के अलावा मैंने बर्तन मले और खाना पकाया है । लेकिन ऐसा भी समय आ जाता है, जब आदमी चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में मौसी जैसी नौकरानी बड़ा महत्व पा लेती है ।

शहर में दूसरे नौकरों का एकदम अकाल पड़ गया हो और मैंने नौकर बदलने की कोशिश न की हो, यह बात भी नहीं । तीन बार मैं ऐसा करके देख चुका हूँ ।

.....एक बार मौसी पेट दर्द का बहाना करके किसी रिश्तेदार से मिलने चली गयी । बीबी मेरी बीमार थी । लाचार एक दूसरा नौकर ढूँढ़ लाया । चुस्त और चाक-चौबन्द । दिन भर उसने इस तेजी और सफ़ाई से काम किया कि मैं और मेरी बीबी अश-अश कर

उठे और हमें मौसी के दुर्गुण कई गुना बड़े होकर दिखायी देने लगे और पहली बार मालूम हुआ कि हम किस जाहिल के साथ दिन काटते रहे हैं। लेकिन दूसरी सुबह उठे तो नौकर साहब गायब। किचन में जाने पर मालूम हुआ कि तरकारी काटते-काटते कहीं गये हैं। जब दिन के बारह बज गये और वे तशरीफ़ न लाये तो चिन्ता हुई। खोज-खबर ली कि कहीं कुछ ले तो नहीं गये, तब पता चला कि मेरी मेज़ की दराज़ से पार्कर कलम, एक घड़ी और एक बटुआ गायब है।

.....दूसरी बार जब मौसी बीमार पड़ी तो मैं एक खानसामा ले आया, जिसके पास कई अंग्रेज़ों के सर्टिफ़िकेट थे। शाम की चाय हम पी चुके थे कि सहसा छः बजे के करीब एक मित्र आ गये और मैंने कहा कि दो प्याले चाय ट्रे में भिजवा दो। जब बड़ी देर तक चाय न आयी तो मैं स्थयं किचन में गया। “साब चाय के वक्त हम चाय देगा, सारा दिन हम चाय नहीं देगा।” और मैंने उसके सर्टिफ़िकेटों में एक ओर की बृद्धिकर उसे दूसरे ही दिन नमस्कार किया।

.....तीसरी बार मौसी ने नोटिस दिया कि वह दो दिन के लिए एक शादी पर जायगी। चूँकि उसके दो और दस दिन में कोई अंतर नहीं, इसलिए मैंने एम्प्लायमेंट एक्स्चेंज का फ़ोन किया कि मुझे तत्काल एक कुक चाहिए। दोपहर ही को शक्ल से साईस लगने वाला एक पतला-दुबला मझोले कद का आदमी दफ़्तर की चिट लेकर आ पहुँचा। उसकी टाँगें परकार की तरह किंचित बाहर को निकली हुई थीं। अपने कद बुत से कहीं बड़ा खुला गर्म कोट और पिचकी सी गोल टोपी उसने पहन रखी थी। मौसी दोपहर का खाना बनाकर चली गयी थी। मैंने

अधिक पूछ-ताछ न कर उसे ले जाकर किचन दिखाया और समझाया कि किस प्रकार इस घर का काम चलता है।

“बस बाबू जी दो-एक दिन हम देख लें.... फिर आपको कोई शिकायत न होगी।”

बरतन पड़े थे, सो उसने मल दिये। रोटी काफी बची पड़ी थी सो उसने डट कर उस पर हाथ साफ़ किया। मैं दफ़्तर में चला गया। शाम को आया तो देखता हूँ कि रसोई-घर में व्यस्त होने के बदले कुक महोदय किचन के आगे की खाली जगह में क्यारियाँ बना रहे हैं।

“अरे भाई तुम यह सब क्या कर रहे हो?” मैंने किंचित् खीझकर कहा, “चाय का वक्त हो गया है, कुछ चाय-वाय बनाओ!”

“सरकार एक बार बहूजी बनाकर दिखा दें तो हम सब बना दिया करें। कोई ज्यादा पत्ती पीता है, कोई कम।”

“तो यह तुमने पहले क्यों नहीं कहा। यह सब तुम क्या कर रहे हो?” सरकार खाली जगह है। मैंने सोचा क्यारियाँ बना दूँ। ‘फलाग’ यहाँ बड़ी बहार देगा, इधर ‘डेलिया’ की कतार लग जायगी, उधर स्वीट सुलताना मुस्करायेगी और इस जगह.....”

“तो क्या तुम माली हो?”

“सरकार, मैं टाइल (टाइल्ज) साब के यहाँ साईस था, पर साब लोग सब इंग्लिस्तान चले गये। तब मैं माली का काम करने लगा। साब आप एक घोड़ा-गाड़ी रखिए, फिर हमारा काम देखिए!”

“तो क्या तुम कुक नहीं हो?”

“बहूजी सिखा देंगी तो वह काम भी सीख लूँगा।”

सन्निप्त यह कि पन्द्रह दिन तक रोटी पकाने के बदले कुक महोदय क्यारियाँ बना कर उनमें फूल लगाते रहे। इतना ही ग़नीमत

है कि जैसे-तैसे बर्तन मल देते थे। हमारा तो क्या पकाते—उनका खाना भी पत्नी को पकाना पड़ा। आखिर यह वचन देकर मैंने उनसे मुक्ति पायी कि ज्योंही मैं घोड़ा-गाड़ी रक्खूँगा, उन्हें अवश्य याद करूँगा !

ऐसे वक्त में मौसी के सिवा हमें कहीं त्राण नहीं मिलता। वह सुस्त और जाहिल है तो क्या हुआ, परले सिरे की ईमानदार, सहनशील और शान्त भी तो है। ऐसे नौकरों का मिलना, जिनमें मौसी के गुण तो हों, लेकिन दुर्गुण न हों, मेरे खयाल में यदि असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है। हम जैसे कमजोर नसों के आदमियों को जितनी जल्दी क्रोध आता है, उतनी ही जल्दी उतर भी जाता है। पर मालिक के क्रोध पर यदि नौकर को भी क्रोध आये तो मालिक का भगवान ही मालिक है। गुरु भी गर्म और चेला भी गर्म तो बात कैसे बने ? मौसी का यह दुर्गुण कि लाख बके जाओ, उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती मेरे निकट उसका सब से बड़ा गुण है। उसके कान पर जूँ रेंगने लगती तो ये आठ बरस कैसे बीतते, इसकी कल्पना भी कष्ट-प्रद है। मैं यह तो चाहता हूँ कि मौसी ठीक से काम करने लगे, लेकिन उसकी जगह दूसरा नौकर रखने की कल्पना नहीं करता। उसे भी जैसे इस बात का विश्वास है कि ये लोग दस नौकर रखें, मेरे बिना इनका काम नहीं चल सकता, जवाब देने के बावजूद, जब जब मैंने उसे फिर बुलाया है, बिना तौना तिश्ना दिये चुपचाप वह आ गयी है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

हमारा जीवन कुछ ऐसा अनियमित है कि कोई भी चीज समय से नहीं होती। हम लाख प्रोग्राम बनाते हैं कि सुबह छः बजे उठेंगे; नहा-धोकर आठ बजे नाश्ता लेंगे, अर्धरात्रि तो बारह, नहीं तो साढ़े-बारह

लंच पर बैठ जायेंगे, चार-साढ़े-चार चाय और रात को आठ-साढ़े-आठ डिनर ले लेंगे। लेकिन अपवाद स्वरूप एक-आध-दिन इस प्रोग्राम पर चले हों तो कह नहीं सकता, नहीं तो जिस दिन सुबह छः बजे उठने का प्रोग्राम बनाते हैं, उसी दिन रात को मित्र आ जाते हैं या सैर में देर हो जाती है या मेरा लिखने का मूड होता है या कहीं सभा अथवा डिनर अथवा कोई दूसरा प्रोग्राम होता है। एक-डेढ़ बजे सोते हैं, सुबह आठ बजे उठते हैं और सारे प्रोग्राम घरे के घरे रह जाते हैं।

आफिस घर में होने से कई बार ऐसा भी होता है कि लोग अपनी दुकान बन्द करके ज़रूरी आर्डर लेने आ जाते हैं अथवा अपने सब काम निबटा कर हमसे मिलने आ जाते हैं और हम अपनी सुविधा का खयाल छोड़कर, चाबी लेकर दफ़्तर चले जाते हैं और जल्दी सोने और जल्दी उठने का प्रोग्राम पूरा नहीं हो पाता।

फिर मेरी पत्नी को चाय पीने का बड़ा शौक है। *Every time is tea time*, चाय कम्पनी का यह मॉटो उसने जैसे अपने लिए अपना लिया है और जिस तरह अच्छे पीने वाले सदा यह पसन्द करते हैं कि जब वे पीने को बैठें तो अकेले न हों, उसी तरह मेरी पत्नी भी अकेले कभी चाय नहीं पीती। और हालांकि मुझे कभी चाय की आदत नहीं थी, उसके इसी स्वभाव के फलस्वरूप मैं भी खूब चाय पीने लगा हूँ। चूँकि चाय हर वक्त मिल सकता है और आँगोठी सुबह छः से रात के दस-साढ़े-दस तक सुलगती रहती है, इसलिए मित्र जब भी आयें मेरी पत्नी चाय बनवाती है। मित्रों की आवभगत भी हो जाती है और वह स्वयं भी एक कप पीने का बहाना पा जाती है।

मौसी ने कभी आज तक (जब तक कि हमी ने उसे ऐसा करने

का आदेश न दे दिया हो) चाय बनाने से इनकार नहीं किया। यह और बात है कि उसे पॉच मिनट में चाय लाने को कहो तो वह आध घंटे में लाती है। कई बार (विशेषकर सर्दियों में) ऐसा भी हुआ है कि रात के साढ़े-दस-ग्यारह बजे जब मौसी रसोईघर बन्द करके जाने वाली होती है, मेरी पत्नी कॉफी पीने की इच्छा प्रकट करती है और मौसी मेरी ओर देखकर, ज़रा सा हँसते हुए, आँखें तरेर कर कहती है—“देखें भइय्ये बहू अब कॉफी माँगत हैं।” और मैं कहता हूँ, “यह कोई टाइम है कॉफी का। अब जाओ सो रहो, सुबह तुम्हें जल्दी उठना होगा, बच्चों के नाश्ते के लिए।” और मेरी बात सुनकर मेरी पत्नी कहती है, “अच्छा ठीक है मौसी, तुम जाओ। अब नहीं पीते।”

मौसी कुछ नहीं कहती। चली जाती है और जब आध-एक घंटे बाद मैं सोने की तैयारी कर रहा होता हूँ तो देखता हूँ कि मौसी कॉफ़ी लिये हुए चली आ रही है।

मैं झल्लाता हूँ, “मौसी तुम बहू की आदत बिगाड़ती हो। तुमसे कितनी बार कहा है कि बहू को बार-बार कॉफी न दिया करो। यह न मानें तो मुझे बताया करो।”

“अरे भइय्ये अब ये काम करत-करत थक जात हैं।” वह अपने उसी ढीले स्वर में कहती है और उसके स्वर में कुछ ऐसी ममता होती है कि मन अभिभूत हो जाता है।

मौसी चली जाती है तो पत्नी मौसी के उन गुणों का बखान करती है जो उसके दुर्गुणों के नीचे दबे रहते हैं, लेकिन जो साधारण नौकरों में एकदम अप्राप्य है और सोचती है कि मौसी न रहेगी तो हमारी क्या दुर्गति बनेगी। और मैं कहता हूँ—*She is a treasure!* और हम दोनों सोचते हैं कि मौसी बूढ़ी हो गयी है। उससे जल्दी काम हो ही

कैसे सकता है। और हम निश्चय करते हैं कि नौकर हम चाहे और रखें, पर मौसी को निकालेंगे कभी नहीं।

मौसी मेरे छोटे बच्चे से बड़ा प्यार करती है। वह उसे तंग करता है, परेशान करता है, लेकिन यदि मज़ाक में भी मौसी को निकालने की बात हो तो वह (यद्यपि अब यथेष्ट बड़ा हो गया है तो भी) आँखें भर लाता है।

मैं इस बात को पसन्द नहीं करता कि मेरे बच्चे 'नौकर' से किसी तरह को बदतमीज़ी से पेश आयें। मैं स्वयं भी अस्वस्थता या परेशानी में ही कभी चिल्लाता या झुल्लाता हूँ, पर बच्चे तो मेरी उस विवशता को नहीं देखते। मेरी नकल में मुझसे एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। एक बार मेरे छोटे लड़के ने मौसी को बुरी तरह डाँट दिया और मौसी ने हँसते हुए कहा, "देखें भइय्ये गुड्डे भइय्या हमें डाँटत हैं।"

जाने मैं बड़ा व्यस्त था, थका था या अस्वस्थ था, मुझपर खून सवार हो गया। मैंने उसे आवाज़ दी और बढ़कर ज़ोर का एक चाँटा उसके मुँह पर जमा दिया। वह रोता हुआ मौसी की गोद में जा छिया। मैंने लाख जतन किया, पर मौसी ने उसे नहीं छोड़ा। सहम के मारे लड़के का रंग फ़क हो गया और मौसी राने लगी।

जाने कैसे उस क्रोध में भाँ मन आर्द्र हो आया। मैं चुपचाप अपने कमरे में चला गया और फिर बाहर नहीं निकला।

हम दोनों पति-पत्नी चाहे कारोबार चलाते हैं और लोग हमें बड़ा सफल समझते हैं। बीसियों तौने मिलते हैं। और झूठ-सच बीसियों अफ़वाहें हमारी चतुराई के बारे में प्रचलित हो गयी हैं, लेकिन हिसाब-

किताब से हम दोनों की जान जाती है। ताले, चाबियाँ हम इस जन्म में तो नहीं सम्हाल सकते, अगले जन्म की राम जाने। यह बात नहीं कि हम ताले नहीं लाते। कई बार दस-दस ताले लाते हैं और सब जगह लगाते हैं, फिर कैसे एक जगह का ताला दूसरी जगह चला जाता है और कैसे चाबियाँ गुम हो जाती हैं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। चाबियाँ टॉगने के लिए दफ़्तर और घर दोनों में दीवार पर बोर्ड लगवाये हैं, उन पर हुक और चाबियों पर कार्ड-बोर्ड की छोटी-छोटी तख्तियाँ लगाकर गोदाम, दफ़्तर, ट्रंक इत्यादि लिखवाये हैं, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला। घर में सब कुछ प्रायः खुला रहता है। हम बाहर जाते वक्त बिना किवाड़ बन्द किये निकल आते हैं और मौसी को आवाज़ देकर कहते हैं, “मौसी हम बाहर जा रहे हैं, घर खुला है।”

मौसी सब दरवाज़े, खिड़कियाँ बन्द करती है, वहाँ का ताला न मिले तो किचन का ताला लगाती है और हम निश्चिन्त घूमते हैं।

एक बार हमें किसी जगह बड़े ज़रूरी काम से जाना था और समय से पहुँचना था। बीबी ने कपड़े बदलकर दराज़ से कानों के आवेज़े और लॉकेट निकाला। पर मेरे जल्दी मचाने के कारण उन्हें वह पहनते ही बाहर निकल आयी और दराज़ बन्द करना भूल गयी। मौसी को आवाज़ दी कि घर सम्हालो और हम चले गये।

जब हम काफ़ी दूर निकल आये तो पत्नी ने कहा, “मैं दराज़ बन्द करना भूल गयी। चाबी, लगता है, उसी में लगी रह गयी।”

मैंने क्रोध से कहा, “अब चलो, जो होना है, अब तक हो चुका होगा।”

दराज़ में पत्नी के गहने ही न थे दफ़्तर का हज़ार-डेढ़ हज़ार रुपया भी था।

जब हम रात को वापस आये तो देखा मौसी सब दरवाज़े बन्द किये बाहर बराण्डे में बैठी है।

“मौसी दरवाज़े हमारे जाते ही बन्द कर लिये थे ?” पत्नी ने रिक्शा से उतरते ही पूछा।

“हाँ बहू।”

“कोई आया तो नहीं था ?”

“नहीं बहू।”

पत्नी ने चाबी ली और कमरा खोलकर अन्दर जाकर देखा— दराज़ वैसे ही आधा बन्द और आधा खुला था, चाबी उसमें लगी थी और सब चीज़ें ज्यों-की-त्यों थीं।

.....एक बार हम बाहर से आये। शॉपिंग करने गये थे। पत्नी ने दस दुकानें देखीं। चीज़ें पसन्द कीं, पर खरीदी एक नहीं। मेरी पत्नी की आदत है कि एक ही बार में कोई चीज़ नहीं खरीदती। पसन्द करके रख आती है और दूस-रेतीसरे दिन खरीदती है। हम बेहद थक गये थे, आकर बाहर बरामदे में ही बैठ गये। शायद कुछ मित्र आ गये या न जाने क्या बात हुई, रात को देर से सोये। सुबह मौसी चाय लायी तो उसके हाथ में मेरी पत्नी का हैण्ड-बैग भी था, जो वह रात को बाहर ही भूल गयी थी। चार-पाँच सौ रुपये जो वह साथ ले गयी थी, उसमें ज्यों के त्यों थे।

“अब तू इहर-उहर बटुआ रख देत है। गुम हो जाई तो आफ्त हम गरीबन कर आयी।” मौसी ने लगभग ढाँटते हुए पत्नी से कहा।

“इतनी बार चीज़ें गुम हुई हैं अम्मा, कभी तुम्हारी आफ़त आयी

है !” पत्नी ने कुछ ऐसे स्वर में कहा, जिसमें प्रसन्नता के साथ हल्के से लाड की मात्रा भी निहित थी। वह जब मौसी से बहुत खुश होती है तो सदा उसे अम्मा कहकर पुकारती है।

और पत्नी की यह बात ठीक है। मौसी से और वीसों शिकायतें हों, यह शिकायत कभी नहीं हुई। तरकारी पड़ी-पड़ी सड़ जायगी, फल मुरझा जायँगे, दही खराब हो जायगा, दूध फट जायगा, लेकिन मौसी हाथ नहीं लगायेगी। जब हम चिल्लायेँगे कि जब कोई दूसरा खाने वाला नहीं था तो तुमने स्वयं क्यों नहीं ले लिया तो उसका एक ही उत्तर है :

“तू हमका कहे न रहे, कइसन लेई लेते।”

मेरी पत्नी और मैं चूँकि कई बार सुबह आठ बजे से लेकर रात के आठ बजे तक दफ्तर में काम करते रहते हैं, इसलिए घर देखने वाला कोई नहीं और कभी-कभी इच्छा होती है कोई ऐसी औरत घर में रहे जो कपड़े-लत्ते, गहने-पत्ते की देख भाल कर सके और समय से सब्जी-तरकारी मँगाकर खाना खिलवा सके। बम्बई में रहते थे तो वहाँ ऐसी ट्रेण्ड आया मिल जाती थी, जो यह काम खुश-असलूबी से कर लेती थी, लेकिन इलाहाबाद में वैसी सुविधा नहीं। पिछले दिनों मेरी पत्नी ने एक दूर-पार की सम्बन्धी महिला को घर में आश्रय दे दिया। धीरे-धीरे उन्होंने घर पर अधिकार जमा लिया। दुर्भाग्य से उन दिनों घर में कुछ मेहमान आये हुए थे। उन्होंने कुछ इस प्रकार समय से खाने का प्रबन्ध किया, स्वयं रिकशा लेकर बाज़ार से सब्जी-तरकारी लाकर नयी से नयी तरकारियाँ और फल खिलाये कि मन बड़ा प्रसन्न हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने गोदाम को ताला लगा दिया, डोली को ताला लगा दिया। बहुत दिन तक यह बात मुझसे छिपी रही। लेकिन एक दिन

जब मैं बे-वक्त खाने पर बैठा और मैंने अचार माँगा और मौसी उनसे ताली माँगने गयी तो मुझे बड़ी उलझन हुई। “यह ताला किसलिए लगाया जाता है। कौन है जो यह खाने की चीजें उठा ले जायगा ?” मैं बड़बड़ाया।

चार छः महीने काम ठीक चला, फिर धीरे-धीरे दो एक बार किचन में मौसी से उनकी तकरार हो गयी। फिर घर से चीजें गायब होने लगीं। ऐसे ही इधर-उधर रखे पैसे-रुपये गायब हुए, इधर-उधर पड़े कपड़े गायब हुए, कुछ बर्तन गायब हो गये। दबी ज़बान से उन्होंने कहा कि आपने मौसी, उसकी बहन और घर में सफाई करने वाली जमादारिन को बड़ी छूट दे रखी है।

मैं उनका इशारा समझ गया और मैंने कहा, “माता जी आठ बरस से ये लोग काम करती हैं, यहाँ कभी कोई चीज़ नहीं गयी।”

एक दिन मैं शाम को दफ़्तर से डाइनिंग रूप में आया तो मौसी शिकायत भरे स्वर में बड़बड़ाने लगी।

“बूढ़ा-बूढ़ा खात हैं और बच्चन लोग मुँह ताकत हैं।”

पूछने पर पता चला कि लड़का स्कूल से आया था, डोली को चाबी लगी थी, माता जी कहीं गयी हुई थीं। बच्चे को नाश्ता नहीं मिला और मौसी ने बताया कि वे महिला खुद खूब खाती हैं और बच्चों को नपा-तुला देती हैं। लड़कों ने भी शिकायत की कि जब देखो डोली में ताला लगा रहता है।

उसी रात मैंने उनसे चाबी ले ली और कहा कि कहीं ताला-वाला लगाने की ज़रूरत नहीं। कुछ दिन बाद वे चली गयीं। जाते-जाते कुछ और चीजें उठा ले गयीं। लेकिन हमने सुख की साँस ली।

एक वर्ष उन्हें गये हो गया है। घर खुला रहता है। कपड़े-लत्ते,

*** मौसी

पैसे-रुपये उसी तरह खुले रहते हैं, लेकिन किसी चीज़ के गुम होने की शिकायत नहीं सुनायी दी। मौसी पूर्ववत् घर सम्हाले हुए है।

मेरी पहली पत्नी से एक लड़का है जो अब बड़ा हो गया है, और कालेज में पढ़ता है। वह मेरे साथ कम ही रहा है। पहले अपनी दादी के पास रहा। फिर चचा-तायों के पास। फिर आया तो कई बार घर से भाग-भाग गया।

पिछली बार वह बम्बई भाग गया और दो साल उसने वहाँ बड़े कष्ट सहे, काफी अनुभव प्राप्त किये और वापस आया तो मैंने उसे यथेष्ट सुलझा हुआ पाया। स्वभाव में वह अपनी माँ पर है। बड़ा संवेदनशील, उदार-दिल और कम बोलने वाला। सभी युवकों की तरह वह अपने माता-पिता को कई बातों में अपनी अपेक्षा कम समझदार पाता है। उसे यह समझ में नहीं आता कि हम क्यों इतना चिल्लाते हैं। क्यों नहीं ऐसी व्यवस्था की जाती कि मौसी को डाइनिंग रूम में बैठे-बैठे जब-तब आवाज़ें देने की ज़रूरत न पड़े।

और पिछले वर्ष की बात है एक दिन मैंने देखा कि वह किचन में बिजली की घंटी फिट करवा रहा है। डाइनिंग रूम किचन से दूर है। काफ़ी लम्बी तार लगानी पड़ी। बटन डाइनिंग रूम में फिट करवा के उसने बड़े गर्व से मेरी ओर ऐसे देखा जैसे कह रहा हो कि होंगे आप बड़े लेखक, लेकिन आपको समझ कुछ भी नहीं। अब देखिए कोई ज़रूरत है मौसी को चिल्लाकर बुलाने की। चुप से घंटी बजा दी और वह अपने आप घंटी की आवाज़ के साथ खिंची चली आयगी। आप लोग हैं कि चिल्ला-चिल्लाकर कम्पाउण्ड सिर पर उठा लेते हैं।

लेकिन मौसी कभी घंटी की आवाज़ के साथ नहीं आयी।

खाना खाते-खाते किसी चीज़ की ज़रूरत पड़ती है या मौसी रोटी लाने में देर करती है तो मेरा लड़का घंटी का बटन दबाता है। मौसी न उत्तर देती है न आती है।

लड़का कुछ देर प्रतीक्षा करता है और अबके दो बार बटन दबाता है।

मौसी फिर भी कोई उत्तर नहीं देती।

कुछ भल्लाहट के साथ वह फिर एक बड़ी लम्बी घंटी बजाता है।

मौसी की तरफ़ से फिर भी किसी तरह की सुन-गुन का आभास नहीं मिलता।

तब अपना स्वाभाविक गाम्भीर्य तजकर, वह ऊपर से मौन पर अन्तर में भल्लाया हुआ किचन में पहुँचता है।

मौसी रोटी बेल रही होती है या अँगोठी को पंखा कर रही होती है या आटा सान रही होती है।

“मौसी तुम्हें घंटी नहीं सुनायी दी ?”

“सुनत तो रहे।”

“तो फिर जवाब क्यों नहीं दिया ?”

“देखत तो हौ, हम क्या खाली रहे।”

“तुम्हारे हाथ आटा सान रहे हैं या ज़बान भी आटा सान रही है ?”

मौसी इसका कुछ भी उत्तर नहीं देती। मुँह उठाकर पूछती है—
“का कहत हौ ?”

‘कहते हैं तुम्हारा सिर,’ लड़का कहना चाहता है, लेकिन कुछ नहीं कहता। भुनभुनाता हुआ आकर बैठ जाता है और मुँह फुला लेता है।

मैं मुस्कराता हूँ तो उसका मुँह और भी फूल जाता है ।

और अब साल भर बाद स्थिति यह है कि घंटी और मौसी अपनी-
अपनी जगह कायम हैं और हमारे घर का काम पहले ही की तरह
चलता है ।

मेमने

कोकरनाग का ज़िक्र चलते ही किरपाराम का चेहरा खिल उठा और वह इच्छाबल और कोकरनाग की यात्रा का वृत्तान्त सुनाने लगा । अपनी इस यात्रा के विभिन्न फ़ोटो उसने काश्मीर सम्बन्धी अपने एलबम में लगा रखे थे । एक-एक करके वे सब उसने मुझे दिखाये । इच्छाबल के ग्रामीण, अल्हड़, लेकिन उदास सौन्दर्य, ट्राउट मछली के पालनों और कोकरनाग के मुर्ग के पंजे ऐसे सात निर्भरों की प्रशंसा करते हुए वह अनायास कवि हो उठा.....

लेकिन तभी मेरे सामने कोकरनाग ही की यात्रा का एक पन्ना जैसे धीरे-धीरे स्मृति के स्पर्श से खुलता गया । यह यात्रा दो वर्ष पहले मैंने स्वयं की थी ।

कोकरनाग काश्मीर का एक दर्शनीय भूतना है । वह पहलगॉव के रास्ते में तो नहीं पड़ता, लेकिन सप्ताह में दो या तीन बार कुछ बसें विज़िटर्स को कोकरनाग और इच्छाबल की सैर कराती हुई पहलगॉव ले जाती हैं । जो लोग जाते समय इन जगहों को नहीं देख पाते, वे

प्रायः आते वक्त इन्हें ज़रूर देख लेते हैं। मैं इन दूसरी तरह के लोगों में से था। जाते वक्त कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैं सुबह की बस से पहलगाँव न जा सका। दो बजे की बस से गया। और क्योंकि बस उधर से होकर पहलगाँव जाय तो चढ़ाई के कारण उस यात्रा में सात-आठ घंटे लग जाते हैं, इसलिए दो बजे वाली बस सीधी पहलगाँव जाती है और दो-अढ़ाई-घंटे में जा पहुँचाती है। तब मैंने तय किया कि आते में उधर से घूमकर आऊँगा और इन दोनों जगहों को देखने का सुअवसर पाऊँगा।

पहलगाँव में उस वर्ष मौसम खुल के न भरा था। इधर छड़ी अमरनाथ की यात्रा से लौटी कि पानी पड़ना शुरू हो गया। एक शाम यह हाल कि लिहर के किनारे चप्पा-चप्पा ज़मीन खैमों से पटी हुई और दो दिन बाद यह कि हू-का-आलम तारी! चन्द खैमे बरखा में भीगते हुए, जैसे उस रौनक और गहमागहमी के शोक में डूबे, मौन और स्तब्ध!

मैंने रोमानियत की भोंक में, भीड़ से हटकर, खैमा पहले प्लैटू पर लगाया था। जब हर तीसरे दिन पानी पड़ने लगा और नीचे बाज़ार जाकर चीज़-वस्तु लाने में तकलीफ़ होने लगी और हवा और पानी के मारे सर्दी बढ़ गयी तो यद्यपि पूरा महीना वहाँ रहने का इरादा था, मैंने वापसी का फ़ैसला कर लिया। इन्तज़ार इसी बात का था कि तीन-चार दिन लगातार मौसम ठीक रहे तो चलें, क्योंकि वापसी पर कोकरनाग देखने की बात थी और पानी पड़ता हो तो देखना-दिखाना कुछ भी सम्भव नहीं।

तभी पूर्णमासी के दो दिन पहले पानी बिलकुल थम गया। अगस्त बीत गया था और शुरू सितम्बर की शामों में अपूर्व निखार

आ गया था। शाम को सूरज डूबता तो मामलेश्वर का पहाड़, जो घनी घटाओं के कारण कृष्ण पत्त की शामों के अँधेरे में काले आकाश ही का अंग बन जाता, अब दोनों ओर के हल्के प्रकाश में अपने अस्तित्व की सारी भव्यता के साथ गर्व से सिर उठाये खड़ा दिखायी देता। उसकी सिलहूत रात में भी जैसे धरती और आकाश से अलग चित्रित नज़र आती। सूरज मामलेश्वर के पीछे दूर कहीं डूबता तो 'आडू,' 'चन्दनवाड़ी' और 'तुलियन' के ऊपर फैले बादलों के हल्के-सफ़ेद लुक्कों को कभी कुन्दनी, कभी केसरिया और कभी सेन्दूरी बना देता और चाँद जब सरे-शाम 'नंगन' के शिखर पर उगता और 'लिदरू' 'नंगन' और 'तुलियन' की चोटियों कुन्दनी हो जाती तो 'तुलियन' के वक्त्र पर पड़ी बर्फ़ कुन्दन में जड़े हुए बड़े से पुखराज सी चमक उठती और सैर को जाते हुए पैर अनायास रुक जाते, नयन शामों की इस खूबसूरती को देखते न अघाते और मन होता कि अब पहलगाँव से कहीं न जायँ, डटकर सितम्बर का पूरा महीना रहँ।

लेकिन मौसम का कोई भरोसा न था और पहलगाँव के रहने वाले कहते थे कि इस बार पानी पीछा न छोड़ेगा, इसलिए जब लगातार दो दिन और दो रात पानी न बरसा तो तीसरी शाम मैंने सैर से वापसी पर, बाज़ार में यूनियन बस सर्विस के अड्डे पर रुककर, प्रातः कोकरनाग को जाने वाली बस में सीट बुक करा ली और अपनी सारी दुबिधा का खात्मा कर दिया।

आकर सामान बाँधा। बँधे सामान को देखकर कुछ ऐसी वहशत हुई कि बाहर निकलकर चारों ओर फैली हुई चाँदनी को खड़ा देखता रहा....निरभ्र आकाश, चित्रित मामलेश्वर, स्वप्न-के-से उजाले में लिपटी आडू और चन्दनवाड़ी की चोटियाँ, दोनों पर बर्फ़ के धब्बे,

घने फैले काले जंगल और चौंदनी में चमकता लिह्र....शायद एक बजा था या डेढ़, जब मैं सोया।

लेकिन न जाने रात के पिछले पहर कहाँ से बादल आ गये, क्योंकि जब प्रातः अड्डे के कुल्ली ने आकर जगाया तो आकाश एकदम मेघाच्छन्न था। सामान तो बँधा ही था, कुली लेकर चला, पर तभी ज़ोर से पानी का फ़र्राटा आया और उसे एकदम भिगो गया। मैंने बरसाती और छाते का सहारा लिया।

कोकरनाग होकर चलने वाली बस यद्यपि श्रीनगर से तो सुबह ही चलती है, पर पहलगॉव से एक बस एक बजे भी रवाना होती है। प्रातः सात बजे चलने वाली बस तीन चार बजे श्रीनगर पहुँचा देती है और एक बजे वाली सात-आठ बजे। मुझे क्योंकि दो दिन बाद श्रीनगर से भी चल देना था, इसलिए मैं न केवल उसी शाम पठान-कोट के लिए सीट बुक कराने का खयाल रखता था, बल्कि कुछ शॉपिंग भी कर लेना चाहता था, इसीलिए मैंने पहलगॉव से प्रातः की बस में सीट बुक करायी थी, लेकिन आसमान के तेवर देखकर जी में आयी कि यदि सीट कैंसिल हो जाय और मैं एक बजे वाली बस से जा सकूँ तो बड़ा अच्छा हो। जाने तब तक पानी थम ही जाय।

अड्डे पर पहुँचकर मैंने इस बात की चर्चा की तो मालूम हुआ कि सीट तो कैंसिल हो सकती है, कठिनाई केवल इतनी है कि पैसे वापस नहीं मिल सकते, क्योंकि एक बजे जो बस जाती है, वह दूसरी सर्विस की है। विवश हो बस में जा बैठा और बस सात बजे के बदले, समय की पाबन्दी की तमाम घोषणाओं के बावजूद, आठ बजे छूटी।

मैं बस में यथा-सम्भव पहली सीट बुक कराता हूँ, लेकिन पहली

सीट मिलेट्री के एक मेजर ने अपनी पत्नी के लिए बुक करा रखी थी, दूसरी पर वे स्वयं विराजमान थे और तीसरी सीट मुझे मिली थी। तीसरी मिल गयी, यही गनीमत है, नीचे के लिए रश शुरू हो गया था, पहली सीटें तो प्रायः कई दिन पहले बुक हो जाया करती थीं और पिछली सीटों पर गन्दे, मैले, अनपढ़ काश्मीरी देहाती भरे रहते थे जो मुर्गियाँ और भेड़-बकरियाँ तक साथ लिये बस में आ बैठते थे। दो दिन धूप पड़ी थी और बरसात के डर से धड़ाधड़ नीचे को चलने वाले दुबिधा में रुक गये थे और बस की पहली सीटों पर जगह मिल गयी थी।

पहलगाँव से बस चली तो मन सहसा उदास हो गया। न जाने एक घंटा तक बरसते पानी में बस के चलने की प्रतीक्षा करने से या बार-बार यह खयाल आने से कि एक दिन पहले क्यों न चल दिया, मन पर एक भारी बोझ-सा आ बैठा। जब बस चली और पानी और भी जोर से बरसने लगा और उस ठंडक में मुझे ड्राइवर के साथ वाली पहली सीट की हल्की-हल्की गर्मी का खयाल आने लगा तो मेरी उदासी और भी गहरी हो गयी।

लेकिन सात-आठ मील पर, जब हम पहलगाँव के बाद पहले गाँव पहुँचे (जिसका नाम जाने बटाकरेट या बटाकरोट था, क्योंकि एक सवारी ने बटाकरेट और दूसरी ने बटाकरोट बताया) तो पानी थम गया। बादल ऊपर उठ गये। ऊपर उठ गये, पर लगता था कि अब भी धमका रहे हैं कि ज़रा भी चीं-पीं की तो फिर दौंगड़े बरसाना शुरू कर देंगे।

मन की उमंग जो पूर्णमासी के उस निरभ्र आकाश को देखकर पैदा हुई थी, प्रातः के उस आसन्न, धिरे आकाश को देखकर

न जाने कहीं हवा हो गयी—कुछ अजीब-सा भीगा-भीगा समों; भीगी बस; भीगी सड़क; भीगे पेड़-पौधे—रास्ते में पड़ने वाले गाँव, बाथी ओर साथ-साथ चलने वाली पहाड़ी और उसके नीचे सड़क के साथ बहने वाली मार्तंड नहर, जिसके पानी का गहरा ज़हरमोहरा रंग गँदला स्लेटी हो गया था—सब कुछ भीगा हुआ था ।

गणेशपुर गुज़र गया । बस रुकी थी, सवारियों उतरीं भी, चढ़ीं भी, पर मैं गुम-सुम बैठा रहा । ड्राइवर से मैंने गाँव का नाम पूछा और बस । मेरी ही बात नहीं, बस के सभी मुसाफ़िर निर्जीव-से बैठे थे । ऊँघ रहे थे अथवा बाहर के भीगे नज़ारों को मुटर-मुटर तक रहे थे ।

इसी तरह 'ऐश मुक़ाम' गुज़र गया । एक बुजुर्ग मेंहदी से रँगी हुई खरखरी दाढ़ी, बड़ा-सा लटकता फ़िरन, कमर में शलवार और सिर पर बड़ी-सी पगड़ी बाँधे मेरे पीछे की सीट पर आ बैठे थे । पूछने पर मालूम हुआ कि ऐश मुक़ाम के हकीम हैं । इधर के गाँवों में दूर-दूर तक उनकी प्रेक्टिस है । दवाई भी देते हैं और दवाई पूरा-पूरा लाभ करे, इस मतलब से गंडे-तावीज़ भी देते हैं । बड़े धनवान हैं । अभी-अभी चौथी शादी की है । अपना मकान बनवा रहे हैं । सरकार ने श्रीनगर में इमारतें बनवानी शुरू की हैं तो ऐश मुक़ाम के सारे बड़ई नीचे भाग गये हैं, सो 'सीर' जा रहे हैं कि वहाँ से बड़ई मिले तो लायें ।

उनके बस में आते ही आप-से-आप ये बातें मेरे बराबर चौथी सीट पर बैठने वाले एक काश्मीरी मुसाफ़िर ने बतायीं । ऐश मुक़ाम के शुरू में बाथी ओर पहाड़ी पर बहुत ऊँचे एक इमारत दिखायी दी थी—बड़ी भव्य और दर्शनीय । उसको लेकर मन में जिज्ञासा उठी थी ।

मैंने हकीम जी से उस इमारत के सम्बन्ध में पूछा तो मालूम हुआ कि जैन शाह की ज़यारत है, अक़ीदतमन्द काश्मीर के कोने-कोने से उसके दर्शनों को आते, मन्नतें मानते और मुरादें पाते हैं। ज़यारत की इमारत कुछ इतनी भव्य, शानदार और उस भीगी-भीगी सुबह में कुछ ऐसी जाहोजलाल वाली लगी थी कि मेरे मन में आयी, पहले से पता होता तो ऐश-मुक़ाम में कुछ घंटे टहरने का प्रोग्राम बनाते और उसे देखकर तब आगे बढ़ते.....

हकीम साहब ज़यारत के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बढ़ा रहे थे कि पीछे से लगातार बस का भोंपू सुनायी दिया। हमारी बस एक ओर हटी और फ़र् से एक बस दायीं ओर से आगे निकल गयी। ड्राइवर ने फिर स्टीयरिंग को घुमाया, लेकिन इससे पहले कि हमारी बस बीच सड़क आती, एक दूसरी बस उसी तेज़ी से जैसे हमारी बस को छिछलती हुई-सी पहली के पीछे निकल गयी। दुर्घटना होते-होते बची। उसकी सम्भावना-मात्र से सभी यात्रियों के रोंगटे खड़े हो गये और हकीम जी की बात-चीत का विषय जैनशाह की ज़यारत से फिसलकर काश्मीर के ड्राइवरों—विशेषकर सिक्ख ड्राइवरों की बेपरवाही और बेउनवानी की ओर चला गया। उनका खयाल था कि तेज़ी से आगे निकल जाने वाली दोनों बसों के ड्राइवर यक़ीनन सिक्ख थे और पिये हुए थे, तभी तो कीचड़ और फिसलन का खयाल न कर, एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ में लगे थे।

सिक्खों का नाम सुनकर बस के दूसरे मुसाफ़िरों की मुर्दादिली भी दूर हो गयी, सौभाग्य से बस में कोई सिक्ख मुसाफ़िर न था, इसलिए निःसंकोच होकर वे चहकने लगे.....

“काश्मीर ही की बात नहीं साहब,” एक बोले, “दिल्ली में क्या

होता है ! फटफटी-रिक्शा चलाने वाले ज़्यादातर सिक्ख हैं । ऐसी अंधाधुंध चलाते हैं कि जान लयों पर जाती है और लगता है कि राजधानी की सड़क पर नहीं यमलोक के राजमार्ग में उड़े जा रहे हैं ।”

बस में कुछ मुसाफ़िर हँसे ।

“एक बार मैं ओखला जा रहा था,” एक दूसरे साहब ने रहा जमाया,” बस तैयार न थी, फटफटिया पर जा बैठा । ड्राइवर सिक्ख । दिल्ली दरवाज़े से बाहर निकलते ही मेरे यार ने जो स्पीड छोड़ी तो लगा कि रिक्शा पर नहीं, हवा के पंखों पर सवार हैं । तभी खयाल आया, यदि उलट जायँ या किसी गड़हे के कारण लगने वाले धक्के से गिर जायँ तो....और कल्पना-मात्र से एक कँपकँपी सी रीढ़ की हड्डी में दौड़ती चली गयी । सहसा ज़ोर से चिल्लाकर मैंने कहा, ‘सरदार जी रिक्शा ज़रा धीरे चलाइए, गिर मरेंगे ।’—‘पहले हमीं मरेंगे साहब ।’ बिना स्पीड कम किये सरदार साहब ने फ़रमाया ।.... अब पूछे कोई कि तुम्हारे पहले मरने से हमारी टूटी हुई हड्डियों को क्या तसल्ली मिलेगी ।”

इस पर लगभग सभी मुसाफ़िर ज़ोर से हँसे ।

एक तीसरे मुसाफ़िर अपने सिक्ख ड्राइवर का किस्सा सुनाने जा रहे थे कि अचानक बस के ड्राइवर ने पलटकर, जैसे सबको सुनाते हुए कहा—“उन बसों के ड्राइवर सिक्ख नहीं, काश्मीरी ही थे ।”

बस में क्षण भर को सन्नाटा छा गया । हमारा ड्राइवर शायद ट्रांसपोर्ट यूनियन का कोई पदाधिकारी था, उसने डाँटा तो सब-के-सब चुप हो गये, फिर किसी ने काश्मीर के ड्राइवरों पर इन सिक्ख ड्राइवरों के प्रभाव की बात छेड़ दी कि कैसे वे बड़े अच्छे थे, लेकिन जब से सिक्ख ड्राइवरों के सम्पर्क में आये हैं, बेपरवा होते जा रहे हैं.....

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

लेकिन तभी 'सीर' आ गया। केवल हकीम साहब को उतरना था। चढ़ा कोई नहीं, क्योंकि दो बसें कुछ ही पहले आगे निकल गयी थीं। बस रुकी कि चल पड़ी।

रिमझिम फिर शुरू हो गयी, लेकिन जैसे शुरू हुई वैसे ही बन्द भी हो गयी। कोई उड़ता-उड़ता नीचा बादल आया और उड़ता चला गया। लेकिन ऊपर घटा वैसे ही उमड़ी, धिरी, रुकी रही....।क अचानक एक झटके से हमारी बस मटन के थाने के ऐन सामने रुक गयी। बातों में मालूम ही न हुआ था, हमने आगे जाने वाली बस को जा लिया था और हमारी बस उसके पीछे-पीछे कुछ फासले से चली जा रही थी। अगली बस अचानक रुकी तो हमारी भी रुक गयी।

मैं सामने खड़ी बस के पृष्ठ-भाग में लिखा उर्दू का शेर पढ़ने की कोशिश कर रहा था कि अचानक बायीं ओर एक कोलाहल-सा उठा और एक व्यक्ति पिटता और पीछे हटता हुआ हमारी बस की बायीं ओर आ गया—लम्बा, पर तगड़ा नहीं; हाथ-पाँव खुले, पर दृष्ट-पुष्ट नहीं; फटा हुआ किरन; नंगे पाँव; धँसे हुए कल्ले और इसीलिए कुछ ज्यादा उभरी हुई नाक—थप्पड़ों और धूसों से बचने के लिए, वह बड़ी बेबसी से अपने हाथ ऊपर-नीचे, इधर-उधर उठा-गिरा, बढ़ा-हटा रहा था। लेकिन पिटने वाले से पीटने वाले की कुर्ती अधिक थी और वह लगातार पिट रहा था।

“होम मनिस्टर के भाई हैं, इसने चोरी की है, रंगे हाथ पकड़ा गया है।” हमारे ड्राइवर ने जो उतरकर बायीं ओर आ खड़ा हुआ था, हमारी जिज्ञासा को शांत करते हुए पीटने और पिटने वाले का परिचय दिया।

“भाई छोड़ बाप हो, पर इस तरह पी ने का उसे क्या हक है।”

मेजर सहसा घोर वितृष्णा से बोला, “चोरी की है तो उसे जेल में भेज दें।”

लेकिन वह अपनी जगह बैठा रहा। हाँ, उसने मुँह दूसरी ओर घुमा लिया, लेकिन उसकी पत्नी उतरकर नीचे जा खड़ी हुई। बैठे-बैठे वह ऊब गयी थी और यह कौतुक उसे बड़ा अच्छा लग रहा था।

मैं भी उतरा। तभी होम मनिस्टर के भाई का मुक्का चोर के सिर पर पड़ा, जिससे कदाचित्त उनके आँगूठे की हड्डी को चोट आ गयी। पीछे हटकर वे खड़े हाँपने लगे। भारी भरकम शरीर, ज़रा-सा टेढ़ा मुख, सिर पर कीमती कराकुली टोपी। गालियाँ देते-देते उनके मुँह से भाग निकलने लगी थी।

वे पीछे हटे तो उनकी अर्दल में खड़ा सिक्ख पुलिस इन्स्पेक्टर आगे बढ़ा। गोरा-लाल चेहरा, भूरे बाल, नीली आँखें—कई पुश्तों से काश्मीर में रहने का चिह्न, लेकिन क्रोध के मारे वह चेहरा उस समय भयानक लग रहा था। भयानक और उन्मत्त—होम मनिस्टर के पीछे हटते ही, गालियाँ देते हुए, इन्स्पेक्टर ने सड़क के किनारे पेड़ की एक मोटी-सी डाल तोड़ी और बेतहाशा चोर को पीटने लगा।

बचने की कोशिश में चोर फिसला, गिरा और फिर यह तय कर पाना मुश्किल हो गया कि कौन अधिक बरसी—लात या लकड़ी।

मेजर-पत्नी की आँखों में चमक थी। उसकी आँखें उस दृश्य से जैसे हटाये न हटती थीं। मेजर की आँखों में घोर वितृष्णा और क्रोध था। शेष मुसाफ़िर मजे से तमाशा देख रहे थे और कुछ बड़े ज़ोरों से होम मनिस्टर के उन भाई के जहाँगीरी-इन्साफ़ की चर्चा कर रहे थे, जो चोर को हवालात में ले जाने का हुक्म देकर बस की अगली सीट पर जा बैठे थे।

बस में उनके चढ़ते ही चोर को दो आदमियों के हवाले करके सिक्ख इन्स्पेक्टर भी उसी बस में जा सवार हुआ ।

उस बस का ड्राइवर ज़रा परे, दोनों टोंगें फैलाये, यह तमाशा देखता हुआ, बड़े इत्मीनान से सिगरेट पी रहा था ।

“बड़ा मारा बेचारे को ।” मैंने उसके निकट जाकर कहा । समझा कि उसकी सहानुभूति अवश्य की उस ग़रीब के साथ होगी ।

“बिलकुल ठीक किया ।” सिगरेट का लम्बा कश खींचकर ड्राइवर ने कहा, “यह हरामज़ादा बटाकरेट से मेमना उठा लाया । नाम तो मेरा लग रहा था कि मैं इसके साथ मिला हुआ हूँ और इसको बैठाकर बस दौड़ा लाया हूँ ।”

“मेमना उठा लाया !” चोरी की वास्तविकता जानकर मैंने हैरत से कहा ।

“हाँ बटाकरेट से मेमना उठाकर उसे कम्बल में छिपा, यह बस में आ बैठा । मेमने के मालिक ने इसे देख लिया । दूसरी बस में सवार होकर उसने पीछा किया । सीर में वह इस बस में आ बैठा । इस हरामज़ादे ने तो मुझे बदनाम ही कर दिया था ।”

और उसने दायें हाथ से सिगरेट का एक जोर का कश खींचते हुए, बायें को घुमाकर जाते हुए चोर की गुद्दी पर एक घूँसा जमा दिया ।

“चलो ड्राइवर !” होम मनिस्टर के भाई चिल्लाये ।

सिगरेट का शेष भाग वहीं फेंककर ड्राइवर भागा । कंडक्टर ने पीछे से ब्रैक निकालकर उसे इंजन में घुमाया । भर्-भर्—भररर हुई । गाड़ी हिली, कंडक्टर ब्रैक लिये पीछे को भागा ।

तभी हमारी बस का भोंपू भी जोर से बोला । मैं मुड़ा । सब सवारियाँ चढ़ गयी थीं, मैं भी भागकर जा चढ़ा ।

ममने

बस से मैंने देखा—दूसरी ओर सड़क के किनारे एक बूढ़ा देहाती गोद में बड़े प्यार से बकरी के बच्चे को लिये हुए खड़ा है। मुख पर उसके अपार सन्तोष है और परे, थाने के बाहर, एक सिपाही थप्पड़ों से चोर का स्वागत कर रहा है—सिपाही का हाथ पीटने और चोर का मार से बचने के लिए उठा था कि हमारी बस निकल गयी।

और यह दृश्य जैसे इच्छाबल और कोकरनाग की उस सारीयात्रा को ज़हरीला बना गया। बस मटन के प्रसिद्ध चश्मे पर रुकी। जाते समय उसे अच्छी तरह देखने का अवसर न मिला था, लेकिन न जाने मन पर कैसा बोझ आ बैठा था कि बस से उतरने को जी न हुआ। कीचड़ के बावजूद लगभग आधे मुसाफ़िर चश्मे की बहार देखने अथवा बाहर के स्टालों से एक-आध प्याला गर्म चाय पीने के लिए उतर गये। मैं वहीं बैठा रहा। वहीं से मैंने चश्मे की एक झलक ले ली....वैरीनाग सरीखी, पर उससे कहीं बड़ी और कम गहरी बावली.... उसके बीचोंबीच छोटे से मंदिर में स्थापित शिवलिंग....तभी देखा कि वह सिक्ख इन्स्पेक्टर चश्मे के किनारे उकड़ूँ बैठा है। कमीज़ की आस्तीन ऊपर चढ़ाकर उसने चश्मे के पानी से मुँह धोया और फिर गुरुद्वारे का नाम धराने वाली कोठरी की ओर देखकर बड़ी श्रद्धा से माथा नवा दिया। क्षण भर बाद जब उसने सिर उठाया तो उसकी आँखों में अपार सन्तोष, प्रसन्नता और आशा थी।

न जाने क्यों, उसके उस सुन्दर गोरे चेहरे, कच्चे भुट्टे-के-से स्फ़ेदी-मायल भूरे बालों और उसके अपार सन्तोष को देखकर मेरे मन में क्रोध का बवंडर उमड़ आया और मेरी आँखों में टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी से बेतहाशा पिटते हुए उस काश्मीरी किसान का चित्र घूम गया जिसने मेमना चुराया था.....

बस चल पड़ी। मटन हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान भी है। पंडे बस को घेर कर मुसाफ़िरों की जान खा रहे थे। बाप-दादे का नाम, मुक़ाम, जाति और गोत्र पूछ रहे थे। उनसे छुटकारा पाकर लोगों ने मुक्ति की साँस ली और मटन के पंडों और उनके चमत्कारों के सम्बन्ध में बातें करने लगे।

बूँदियाँ फिर शुरू हो गयीं। इच्छाबल पहुँचे तो पानी लगातार बरस रहा था। लोग उतर कर बरसातियाँ पहने और छाते ताने इच्छाबल देखने चले। कुछ मनचले बरसते पानी की परवा न करते हुए बढ़ गये। मेरा मन उतरने को ज़रा भी न हो रहा था, पर बैठे-बैठे टॉगें अकड़ गयी थीं। मैं उतरा। थोड़ी दूर चलकर बाग़ में पहुँचे—एक दम शालामार के पैटर्न का—लेकिन प्रकट शालामार से भी पुराना, उदास और बे-रौनक, दो चार माली गिद्धों से उस पर मंडरा रहे थे और बख़्शीश के नाम पर मुसाफ़िरों की जेबें कुछ हल्की करने के प्रयास कर रहे थे। साथी मुसाफ़िर नीचे की बाटिकाएँ देखने को बढ़े। पर मैं एक नज़र भरने और फिर बाग़ की पहली मंज़िल पर डालकर बस में वापस आ गया। ट्राउट मछली कहाँ और कैसे पाली जाती है, यह देखने भी नहीं गया। खाना भी जो कुछ खाना था, बस ही में खाकर मैंने पानी पी लिया।

कोकरनाग में एक छोटे से रेस्तोरॉ के सामने बस रुकी। चश्मे को जाने वाली सड़क पर बड़ी फिसलन थी। किसी तरह सम्हल-सम्हल कर पैर रखते हुए वहाँ पहुँचे। बड़ी निराशा हुई—पहाड़ के नीचे से, छः-सात जगह पानी निकल रहा था, कहीं से थोड़ा, कहीं से ज़्यादा—सब मिलाकर होंगे मुर्ग के पंजे के आकर के—इसीलिए उसका नाम 'कुक्कड़ नाग' या 'कोकरनाग' पड़ गया था।

लेकिन वैरीनाग, मामलेश्वर और मटन की बावलियों में बँधे भरनो को देखने के बाद, जहाँ हौल्दली रंग के सब्जी-मायल नीले-नीले पानी में मछलियाँ तैरती थीं और निर्मल जल में दूर तक निगाहें काम करती थीं और यह मालूम भी न होता था कि पानी कहाँ से आता है, यह निहायत गैर-रोमानी ढंग से खुले में, पहाड़ी के पैरों से बहता हुआ पानी मुझे बेहद निराशाप्रद लगा— क्या यही देखने के लिए कोसों की मंज़िल मागकर हम यहाँ आये थे ।

और उस समय जब साथी मुसाफ़िर एक-एक सोते के अन्वेषण में रत थे, कभी इधर और कभी उधर से देख रहे थे और बादल-बूँदियों के बावजूद फ़ोटो उतारने की कोशिश में संलग्न थे, मैं वापस लौट पड़ा । फिसलन बेहद थी । इतने लोगों के चलने से सड़क पर कीचड़-सा हो रहा था । एक-एक पैर सग़ालकर रखना पड़ रहा था ।

अभी मैं बस के पास भी न पहुँचा था कि एक दूसरी बस आकर रुकी । कई यात्री उतरे । उसमें सब से आगे हथकड़ी में बँधा वही मेमना-चोर था ।

“यह तो मटन के थाने में गया था ।” मैंने बढ़कर उसके साथ उतरने वाले सिपाही से पूछा ।

“अर्धो चोर है, कोकरनाग का है, यहीं इसके मामले की जाँच होगी ।”

और सिपाही उसे आगे करके थाने की ओर चल पड़ा । मैंने देखा—चोर के ओठ सूजे थे, शायद कोई दाँत भी टूट गया था, क्योंकि ओठों में लोहू जमा था, कनपटी के ऊपर गुमटा बन गया था और उसके नंगे कंधे पर टेढ़ी-मेढ़ी मोटी लकड़ी की मार से गोشت उभर आया था । मैं कितनी ही देर तक उसे जाते हुए देखता रहा ।— अर्धो ही सही, पर क्या वह इतनी दुकाई के योग्य था ? क्या दोष

सारा उसी का था ? क्या उस व्यवस्था का ज़रा भी दोष न था जो किसी को इतना अभावग्रस्त रखती है कि वह एक मामूली मेमना चुराने पर विवश हो और फिर उसे इतना पीटती है कि उसके गुमटे उभर आयें और उसके दाँतों-ओठों से लोहू बहने लगे !

“आप क्या सोच रहे हैं ?”

मैं चौंका । कोकरनाग के चित्रोंवाला पृष्ठ मेरे सामने खुला पड़ा था और किरपाराम मेरी ओर मुटर-मुटर तक रहा था ।

“कुछ नहीं ।” मैं हँसा, “कोकरनाग के रास्ते की सुन्दरता मेरी आँखों में घूम गयी थी ।”

“रास्ता ही नहीं,” मेरे ओठों के विद्रूप की ओर न देख, अपने जोश में किरपाराम बोला, “कोकरनाग की हर चीज़ सुन्दर है । पानी वहाँ का इतना अच्छा है कि अब कश्मीर जाने का मौका मिला तो वहीं ठहरने का इरादा है ।”

— — —

घिसा हुआ पत्ता

रेस्तोरों में लगी हुई मेज़-कुर्सियों के सागर में मछलियों की भाँति तैरते हुए, एक सी गति से चाय या कॉफी या दूसरा सामान लाते ले-जाते और टिप पा, मुस्कराकर या बिना मुस्कराये सलाम करते हुए बैरों को देखकर एक ही खेल में, एक ही ढंग से बाँटे जाने वाले साफ़-सुथरे ताश के पत्तों की याद आ जाती है। ताश के उन पत्तों में यों कोई अंतर दिखायी नहीं देता—कम से कम उनके बाँटे जाने की गति में। पर यदि कोई पत्ता देख सकता और अनुभव कर सकता—अपने खेलने वालों की भाव-भंगिमाओं को, उनके मनोभावों को और उनकी व्याकुलता और व्यग्रता को....तो....

और जिस बैरे की कहानी मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, वह ऐसे ही जानने-सुनने और अनुभव करने वाले पत्ते सरीखा है।

चर्च गेट रोड बम्बई के रेस्तोरों में वह काम करता है। उसकी आकृति पर उसकी यह अनुभूति और जानकारी उल्लास-भरी मुस्कान अथवा भ्रू-भंग के बड़े हल्के विभिन्न रंगों में प्रतिबिम्बित होती रहती है।

♦♦ चिसा हुआ पत्ता

वह शुरू ही से बम्बई की उस चहलपहल और शोर का अंग हो, ऐसी बात नहीं। उसका जन्म कुमायूँ की पहाड़ियों के बड़े ही शांत वातावरण में हुआ था। कुमायूँ की पहाड़ियों में, जहाँ पलक भूपकते बादल आते हैं, बरसते हैं और चले जाते हैं। जहाँ गंगा की नदी देखते-देखते ठाठें मार उठती है और फिर पहाड़ियों से अनजाने खो जाती है। जहाँ धुन्ध पल भर में उठकर इतनी गहरी हो जाती है कि पहाड़ और पेड़ और पौधे और सामने चार कदम पर चले जाने वाले आदमी—कुछ भी नज़र नहीं आता और लगता है जैसे बादलभरा आकाश जमीन पर उतर आया हो। लेकिन इस सारी सुन्दरता को उसने कभी कालिदास अथवा पंत की आँखों से नहीं देखा। बचपन ही से उसे जीविकोपार्जन के लिए घर छोड़कर ज़िन्दगी के सागर में एक तिनके सरीखा भटकना पड़ा है। कुमायूँ के जवान तो सेना में भर्ती होते हैं—पर इतना जवान होने के लिए कि वह सेना में भर्ती हो पाता—उसे समय ही नहीं मिला। छुटपन ही से वह रानी खेत के एक साहब के साथ घरेलू नौकर होकर इलाहाबाद आया। फिर गर्मियों में पहाड़ और सर्दियों में इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, दिल्ली के किसी न किसी घराने में नौकरी करता रहा। छुट्टी में पढ़ता था, जब वह गाँव से भागा था। गाँव से रानी खेत तक आते-आते उसके कपड़े मैले-चीकट हो गये और उसका गोरा रंग भी उन मैले कपड़ों से भिन्न न था। लेकिन घरों में काम करने पर अपने साहबों की देखा-देखी वह अच्छे कपड़े पहनना, सस्ता साबुन और सस्ती क्रीम और छिपाकर अपने साहबों का पाउडर लगाना सीख गया। और यद्यपि उसकी उम्र फ़ौज में जाने की हो गयी, पर वह घरेलू काम में कुछ ऐसा रस पाने लगा कि फ़ौज में नहीं गया। शादी उसकी लड़कपन

ही में हो गयी थी। गौना नहीं आया था। और अधिकांश दिन उसे अपने घर से दूर शहरों में ही बिताने पड़ते थे—ऐसे शहरों में, जहाँ सजी-सँवरी जवान लड़कियाँ थीं—सिनेमा-थियेटर थे और उसके शरीर में न जाने क्या लपलपाती आग-सा जग उठा था। उसका गोरा रंग....उसकी साफ़-सुथरी वेश-भूषा....और एक दिन उसने पाया कि ऐसे घरों में जहाँ लड़कियाँ हों और जवान बीवियाँ—उसे जगह नहीं मिल सकती। उसने दो-चार ऐसे घरों में काम किया, जहाँ ऐसी कोई बाधा नहीं थी, पर वहाँ उसका मन न लगा और उसने अपने एक दूसरे साथी के साथ एक होटल में नौकरी कर ली। वह पहले किचन ब्वाय बना—फिर बैरा।

घर में जब वह नौकरी करता था तो सुबह-छः बजे उठकर रात को दस-ग्यारह बजे तक काम किया करता था। उस एकरस जीवन में किसी प्रकार की दिलचस्पी न थी। कई बार जब घर में मेहमान आ जाते तो दोपहर को आध घंटे का आराम भी नसीब न होता। काम—काम—काम। लेकिन कभी जब किसी घरेलू युवती की उपस्थिति में वह काम करता तो अपने काम का भार उसे उतना न खलता। बैरे का काम यद्यपि अपेक्षाकृत कम था। दोपहर को दो-एक घंटे आराम के भी मिल जाते थे, किन्तु वहाँ किसी तन्वंगी के निकट बैठकर काम करने का अवसर प्राप्त न होता। पहले-पहल उसने नैनीताल के एक होटल में दो-तीन साल तक काम किया। सीज़न के दिनों में बड़े ज़ोरों का रश रहता। सुबह ७ से रात १० बजे तक काम करना पड़ता। होटल में १०० के लगभग कमरे थे और कुल दस बैरे। सुबह 'बैड टी' पहुँचाना, फिर नाश्ता (कई साहब कमरे में ही नाश्ता मँगाते) फिर साहब लोगों के बिस्तर बिछाना; फ़र्नीचर झाड़ना; साहब अच्छा

हो (उससे जाते समय टिप मिलने की आशा हो तो) जूते भी पालिश करना, फिर लंच फिर शाम की चाय । (जो प्रायः कमरे में ही जाती) और फिर डिनर । दोपहर के लंच के बाद वह आध घंटे के लिए सो जाता या शेव कराता या उसके कमरे के साहब कहते तो उन्हें सिगरेट ला देता । कुछ न होता और जी ऊबता तो मल्ली ताल की सैर को निकल जाता और भील की दीवाल अथवा किसी ढाबे पर बैठकर गप लड़ाता ।

वह शायद जीवन भर यही करता, पर नैनीताल के सीज़न का जोर इधर मई-जून के दो महीने और उधर सितम्बर-अक्तूबर के दो महीने ही रहता । शेष वक्त उसे अपने गाँव अथवा नीचे मैदान के किसी बड़े शहर के रस्तों में गुज़ारना पड़ता ।

नैनीताल में एक बार बम्बई की एक फ़िल्म ऐक्ट्रेस उसके होटल में एक महीने के लिए ठहरी और बातों ही बातों में उसने बम्बई के जीवन का चित्र कुछ ऐसे शब्दों में खींचा कि अभी सीज़न खत्म भी न हुआ था कि आधे महीने की पगार होटल ही में छोड़ कर वह उसके साथ बम्बई चला गया ।

तीन-चार बरस इस या उस ऐक्टर, इस या उस नायक, इस या उस डाइरेक्टर या प्रोड्यूसर के घर पहले ही की तरह ५ बजे सुबह से रात दस बजे तक बावर्ची-बैरे का काम करता रहा । उम्मीद थी कि उसके साहब या मेम साहब उसे फ़िल्म में छोटा-मोटा रोल दिला देंगे, किन्तु जब तीन बरस तक उसे रोल बोल तो न मिला और घाते में पहले से ज्यादा मेहनत हाथ आयी तो उसने वह सब छोड़-छाड़कर फिर बैरे की नौकरी कर ली ।

अपने देस गये उसे तीन बरस हो गये हैं । वहाँ जाने को उसका ज़रा भी मन न हुआ हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन आ तो गया वह उन

ऐक्ट्रेस महोदया के खर्च पर, अब जाये कैसे ? बम्बई से कुमायूँ प्रदेश के अपने उस घर में पहुँचने के लिए जितना रुपया दरकार है, वह कभी नहीं जुटा पाया। वह दो-तीन महीने मितव्ययता से काम चलाता तो शायद उतने पैसे जुटाने, मुश्किल न होते, पर बम्बई पहुँचकर उसने नयी आदतें सीख ली हैं और उसकी महीने की पगार पहले हफ्ते की भेंट हो जाती है।

आम दिनों में वह छः बजे उठता और आठ बजे रेस्तोरों पहुँच जाता है। लंच तक काम पर रहता है, फिर तीन घंटे आराम को मिल जाते हैं फिर चार बजे से रात के नौ बजे रात तक रेस्तोरों में काम करता है। इतवार को आधा वक्त बारी से छुट्टी होती है, पर पगार के बाद के पहले दिनों में वह नियमित रूप से अपने काम पर से दो-तीन-दिन तक गायब रहता है। हजामत बनवाता है, शोब करता है, सूट पहनता है और दूसरे होटलों के अपने ही जैसे साथियों के साथ खाना उड़ाता है और दिन में दो-दो, तीन-तीन शो देखता है। खाना उसे रेस्तोरों में मिल जाता है, पर उन दिनों वह अपने रेस्तोरों जाने वाली सड़क की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उस महानगरी के विभिन्न रेस्तोरों होटलों में खाना खाता और चाय पीता है। उन क्षणों में वह अपनी हस्ती तक भूल जाता है। और एक दम साहब बना बैरों को आवाज़ देता है। उसका कुल वेतन पचास रुपया है, पर वह किसी बड़े साहब से कम टिप नहीं देता। होटलों में आनेवाले साधारण ग्राहक रुपये पीछे एक आना टिप देते हैं। पर बिल बड़ा हो या छोटा वह बड़ी शान से आने तश्तरी में छोड़ देता है।

अपनी ये हरकतें उसे कई बार खासी हास्यास्पद लगती हैं। कई बार उसके साथी उसका मज़ाक भी उड़ाते हैं, पर वह कभी कम टिप नहीं

देता। उसके होटल में आनेवाले ग्राहक भारी जेबों के बावजूद जिस घटियापन का सबूत देते हैं, वह स्वयं अपनी हल्की जेब होते हुए भी खुले दिल से टिप देकर उन सब का मुँह चिढ़ा देता है।

खुले दिल से बख़शीश देने वाले उसके रेस्तारों में बिलकुल न आते हों, ऐसी बात नहीं, लेकिन सचमुच ऐसे बहुत कम होते हैं जो स्वभावतः खुला खर्च करते हैं। कुछ का खुली बख़शीश देना केवल अपने साथियों पर अपनी पद-प्रतिष्ठा का रोब डालना होता है। वे जब अकेले आते हैं तो या बहुत कम टिप देते हैं या काउंटर पर आप जाकर बिल चुकाते हैं और बिना उसकी ओर देखे चले जाते हैं। टिप की मात्रा ही से वह जान जाता है कि कब उसके ग्राहक ऐक्टर्स को काम मिला है या कब छूटा है। कई बार जब बिल पूरी रकम का होता है, तब खुले दिल से बख़शीश देने वाले जेब से रेज़गारी निकालकर बख़शीश रख देते हैं। कभी जब बिल के बदले पाँच या दस का नोट दिया जाता है और बिल पूरी रकम का होता है तो वह शेष रकम में एक रुपये की रेज़गारी साथ रख देता है ताकि ग्राहक को टिप देने में कठिनाई न मालूम हो। पर कई ऐसे भी होते हैं जो बड़ी बेशर्मी से सारी की सारी रकम जेब में डालकर चले जाते हैं। कभी ऐसे क्षण में उसे अपने-आप पर और बख़शीश देने और माँगने की इस प्रणाली पर बड़ा क्रोध आता है और वह सोचा करता है कि यदि इस बख़शीश के सिस्टम को हटाकर पगार बीस-तीस रुपये बढ़ा दी जाय तो कितना अच्छा हो। उसके रेस्तारों में, वह जानता है कि कुछ लोग ऐसे भी आते हैं, जिनकी पगार अधिक नहीं और जो बम्बई के अधिकांश निवासियों की तरह रेस्तारों में खाने को विवश हैं। बख़शीश देने की इस प्रणाली से मजबूर होकर जब वे बख़शीश देते हैं

तो उनकी आकृति पर जैसे भाव आते हैं, उन्हें देखकर कई बार उसके मन में आता है कि कहे—रहने दीजिए, इनके पान मेरी ओर से खा लीजिएगा—पर वह कभी ऐसा नहीं कहता और चुपचाप पैसे लेकर सलाम कर देता है। जब कभी कोई ऐसा सेठ, जिसे वह जानता है कि धनपति है, उसे कंजूसी से टिप देता है तो उसके जी में आता है कि बखशीश के पैसे उसके मुँह पर दे मारे, पर वह कुछ नहीं कहता, भ्रूभंग किये सलाम देता है और चुपचाप पैसे जेब में डाल लेता है।

जब कभी कोई नया जोड़ा, नयी मुहब्बत के नशे में सरशार, उसके रेस्तोरों में आता है तो उन्हें चाय मिलाते या खाना खिलाते समय, उनकी धीमी-धीमी प्यार भरी बातें सुनकर, उसे अपने देश में बैठी अपनी पत्नी की याद आ जाती और लम्बी आह उसके सीने से निकल जाती है। उन दिनों वह अपनी पगार से पेशगी रुपये लेकर अवश्य ही कोई न कोई लाटरी का टिकट खरीद लेता है और जब तक लाटरी का नतीजा नहीं निकलता तरह-तरह के सुख-सपनों में गुम रहता है। और जब उसकी आशा निराशा में बदल जाती है तो वह लम्बी साँस भरकर अपने एक ग्राहक से सुना हुआ शेर आलाप उठता है—

हर वक्त यास हिज्र में दिल की रही शरीक

हर मर्तबा उम्मीद ने धोखा दिया मुझे ।

और फिर उसका जीवन चक्की सरीखा चलने लगता है—ताश के पत्ते बँटते रहते हैं। वह पत्ता बहुत कुछ जानता है (कि बँटते-बँटते घिस गया है) बहुत कुछ सोचता-समझता है, पर अपने खेलने वालों के हाथों से निकल नहीं पाता। बँटता रहता है....बँटता रहता है....

हीरो का रोल

जी नहीं, यह साहब कम्पनी की नयी खोज नहीं—हीरो, साइड-हीरो, विलेन, कैरेक्टर एक्टर—ये कुछ भी नहीं—ये केवल एक्स्ट्रा हैं। आप यहाँ नये-नये आये हैं। आपको यहाँ वालों की गप्पों का ज्ञान नहीं। इन लोगों की बातों को आप सच मानने लगेंगे तो आपको एक भी काम का आदमी नहीं मिलेगा और आप रुपया छुटाकर घर जा बैठेंगे।

आप असल में दीक्षित जी के नाक-नकशे, डील-डौल से प्रभावित हो गये हैं। फिर गप्प हाँकने में सारे स्टूडियो में इनका कोई सानी नहीं, पर मैं आपको बताता हूँ कि महेश दीक्षित भी इनका असली नाम नहीं। अब जब आपने मुझे दो बात करने का समय दिया है और आप सब स्थिति ठीक-ठीक जानना ही चाहते हैं तो मैं आपको हर बात से आगाह रखूँगा और धोखा नहीं खाने दूँगा।

—इनका असली नाम ? आप सारी कम्पनी में किसी से पूछ देखिए, इनका असली नाम कोई नहीं जानता। फ़िल्मी दुनिया में सब

जगह ये दीक्षित जी कहलाते हैं। लेकिन सिर्फ मैं हूँ, जिसे इनके असली नाम का पता है। बात यह है कि मैं इन्हें सात बरस से जानता हूँ। बड़ी देर तक हम इकट्ठे मलाड में रहते रहे हैं। फ़िल्मी दुनिया में आने से पहले ये अपने आपको आर० राम के नाम से याद करते थे। हम लोग समझते थे कि इनका असली नाम रलाराम है, क्योंकि एक तो यह नाम पंजाब में काफ़ी चलता है और ये 'दीक्षित जी' कहाने के बावजूद पंजाबी हैं, दूसरे जब-जब हमने इनसे पूछा कि आर० राम का मतलब क्या रलाराम है ? तो ये सदा चुप लगा गये और हमने समझा कि शायद हमारा अनुमान गलत नहीं। लेकिन सच मानिए, इनका असली नाम रलाराम भी नहीं। अभी कुछ दिन पहले हम 'हिंदू माता' में एक पिकचर देखने जा रहे थे कि अचानक ड्राम में चढ़ते हुए इनके एक वतनी मिल गये और बड़े तपाक से इनकी पीठ पर धौल जमाते हुए बोले, " सुना बे रलू, सुनिया तू हीरो बन गया ऐं। नन्ते (याने अनन्तराम) नूँ तेरी चिट्ठी आयी सी कि कम्पनी दी अगली फ़िल्म-विच तू हीरो दे रोल-च उत्तर रिया ऐं।" * ये तो तत्काल उनके गले में बाँह डाले मुझसे ज़रा परे जा बैठे, पर मुझे पता चल गया कि इनका असली नाम रलाराम नहीं, रलूदूराम है।

— महेश दीक्षित क्या कम्पनी ने इनका नाम रखा ? अजी खुदा-खुदा कीजिए ! यह नाम इन्होंने स्वयं रखा है। बात यह है कि किसी ज़माने में हीरो के नाम के साथ कुमार होना बड़ा ज़रूरी समझा जाता था। अब भी अशोक कुमार, दिलीपकुमार और

* सुना बे रलू, सुना है कि तू हीरो बन गया है। अनन्तराम को तेरी चिट्ठी आयी थी कि कम्पनी की अगली फ़िल्म में तू हीरो की भूमिका में उत्तर रहा है।

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

किशोरकुमार बड़े लोकप्रिय हैं। लेकिन हमारे रत्नराम जी को ये नाम सब घिसे-पिटे लगते हैं। यों फ़िल्मी दुनिया के बहमों से ये भी मुक्त नहीं, इसीलिए यद्यपि इन्होंने नाम के सिलसिले में किसी हीरो का अनुकरण नहीं किया ता भी आधा नाम एक प्रसिद्ध डायरेक्टर तथा आधा एक प्रसिद्ध एक्टर से लेकर अपना यह नाम ईजाद कर लिया है। दिल में कभी-कभी सोचते हैं कि जैसे वे लोग प्रसिद्ध हो गये हैं, कौन जाने कभी मैं भी फ़िल्मी दुनिया में चमक उठूँ।

—इस बड़ी कम्पनी में कैसे आ गये ? अब यह न पूछिए। यह बड़ी लम्बी कहानी है। पेशावर कालेज में पढ़ते थे, जब सहसा एक दिन इन्हें पता चला कि फ़िल्मी दुनिया के एक चमकते सितारे भी कभी उसी कालेज की बेंचों पर टिमटिमाया करते थे। तभी इन्हें पहली बार खयाल आया कि आखिर इनमें कौन सी कमी है जो ये फ़िल्म के आकाश पर उन्हींकी तरह न चमक सकें ?—क्या ये उन्हींकी तरह लम्बे-तगड़े, लहीम-शहीम नहीं, कुश्ती नहीं लड़ते, डंड नहीं पेलते ? आखिर इनमें कमी किस बात की है ? पढ़ने में यों भी कभी इनका मन न लगा था और किताबों के नीरस वातावरण की तुलना में फ़िल्मों की रंगीन दुनिया बड़ी लुभावनी लगती थी। तब मन में इन्होंने फैसला कर लिया कि अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलते हुए (बिना उनसे मिले अपने कालेज में कभी पढ़ने वाले उन अभिनेता को इन्होंने सहज ही अपना गुरु मान लिया था।) ये भी एक-न-एक दिन फ़िल्मी आकाश पर उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति ऐसे चमक उठेंगे कि भारत भर के फ़िल्म-दर्शकों की नज़रें इनके अभिनय को देखकर चौंधिया जायँ।

अपने इस निर्णय को कार्यरूप में परिणित करने के लिए इन्होंने यह ज़रूरी समझा कि पहले अभिनय-कला में कुछ सिद्धि प्राप्त करें

और न केवल इन्होंने उस कला पर कई अंग्रेजी ग्रन्थ घोट कर पी डाले, बल्कि कालेज की ऐमेचर समिति के मंत्री भी बन गये। ये प्रायः इस बात की डींग मारा करते हैं कि इन्होंने उस समिति के पहले नाटक 'प्रेम वियोगिनी' में अद्वितीय कला का परिचय दिया और दर्शक इनके अभिनय को देखकर करतल-ध्वनि कर उठे। लेकिन वास्तव में (जैसा कि इनके उन्हीं वतनी साहब ने हमको बताया।) वह नाटक इन्हींके अभिनय के कारण चौपट हो गया। इनके अभिनय पर लोगों ने खूब आवाज़ें कसे, शोर मचाया और ठहाके लगाये, यहाँ तक कि इनको फिर कालेज के स्टेज पर उतरने का साहस नहीं हुआ। लेकिन आदमी ये ढीठ हैं। फिर इन्होंने सुन रखा था कि इनके वे गुरु कई असफलताओं के गड़हों से निकलकर सफलता के स्वर्ण-शिखर पर पहुँचे थे, इसलिए उस आरम्भिक असफलता से हतोत्साह होकर जी छोड़ देने के बदले, इन्होंने अपने सारे प्रयत्न बम्बई का किराया जुटा देने में लगा दिये। पिता इनके गरीब क्लर्क थे और अपने सुयोग्य बेटे को यदि आई० सी० एस० नहीं तो पी० सी० एस० बने ज़रूर देखना चाहते थे, लेकिन रत्नदूराम जी उन बड़े पदों को कुछ सुधरी हुई क्लर्कों से ज्यादा महत्व न देते थे और उस बँधे-रुके पोखर की मछली बनने के बदले, फ़िल्म क्षेत्र की विशाल भील में राजहंस बने तैरने की आकाँक्षा रखते थे। इसलिए जब और किसी तरह बम्बई का किराया न जुटा पाये और निरन्तर फ़िल्मी दुनिया में ध्यान रमे रहने के कारण परीक्षा में फ़ेल हो गये तो इन्होंने अपनी साइकिल और पुस्तकें बेचीं और बम्बई का टिकट ले लिया। इनके वो वतनी तो कहते थे कि ये अपनी माँ के गहने भी उड़ा लाये थे, लेकिन ये इस बात से इनकार करते हैं और सदा कहते हैं कि इन्हें बम्बई में नौकरी ऑफ़र हुई थी, इसलिए

चले आये ।

अब बम्बई का भी सुन लीजिए । यहाँ आकर इन्होंने सबसे पहले जो काम किया, वह यह था कि अपना नाम सल्दू राम के बदले मधेश दीक्षित रख लिया । फिर तय किया कि तीन बातों का सदा ध्यान रखेंगे—पहली यह कि रोज़ी चाहे जैसे कमायें, फ़िल्मी दुनिया में घुसने का निरन्तर प्रयास करेंगे, दूसरी यह कि जहाँ बैठेंगे, 'प्रेम वियोगिनी' के अपने अद्वितीय अभिनय का सविस्तार—डायलाग को भाव-भंगिमाओं सहित सुनाकर—उल्लेख करेंगे और इनसे पहले कालेज में जो नाटक हुए, उनका सारा श्रेय भी स्वयं ही लेंगे; तीसरी यह कि किसी फ़िल्म के डायरेक्टर अथवा प्रोड्यूसर के निकट पहुँचने का सतत प्रयास करेंगे । आदमी ये तेज़ हैं । एक के बाद एक—इन्होंने कई नौकरियों कीं । कपड़े की एक बड़ी दुकान में सेल्ज़मैन हुए, सोडा-वाटर फ़ेक्ट्री का सोडा और डेयरी फ़ार्म का दूध सप्लाई करते रहे । एक केमिस्ट के यहाँ कम्पाउण्डर और एक सेठ के यहाँ मुनीम भी रहे ।

—इनमें से किसी नौकरी पर टिके क्यों नहीं ? मैंने अर्ज़ किया न कि अव्वल तो इन्हें किसी काम का अनुभव नहीं था, फिर वे नौकरियों इनके समय का अधिकांश भाग अपने लिए ले लेती थीं और ये अपने उद्देश्य में आगे न बढ़ पाते थे । वे नौकरियाँ इनके लिए साधन थीं, साध्य नहीं ।

तभी जब इनकी मुनीमी खत्म हुई, अचानक इनके भाग्य ने जोर मारा । ये एक प्रसिद्ध सिगरेट कम्पनी के प्रचार-विभाग में टूरिंग-एजेंट हो गये । उन दिनों कभी आप इनसे मिलते तो इनकी गप्पों की हकीकत आप पर खुलती—बाँसों पर लगे सिगरेटों के विज्ञापन-चित्र हाथ में उठाये, कम्पनी के सिगरेटों की जय बुलाने वाले किराये के छोकरो के

हीरो का रोब

आगे-आगे, घंटी बजाते हुए, ये बम्बई के तूल-अर्ज़ में घूमते और नाकों में खड़े होकर नमूने के तौर पर लोगों को मुफ्त सिगरेट बाँटते। इसी तरह घंटी बजाते, कम्पनी के सिगरेटों की जय बुलाते ये रहमान दादा के दफ्तर के सामने पहुँचे। जब इन्हें पता चला कि रहमान दादा फ़िल्मी स्टूडियो में पहुँचने की पहली सीढ़ी हैं तो उस दिन के सिगरेटों का सारा कोटा इन्होंने उन्हींके दफ्तर को भेंट कर दिया और इस तरह रहमान दादा का परिचय पा लिया।

—रहमान दादा का नाम आपने नहीं सुना।—यहाँ तो सारी बम्बई में उनके नाम का सिक्का चलता है। वे एक्स्ट्रा सप्लायर हैं, इतना परिचय उनका महत्व पूरी तरह प्रकट नहीं करता। यह और अर्ज़ कर दूँ कि वे एक्स्ट्रा सप्लायरों में प्रमुखतम हैं। यही नहीं, वे बड़े काम के आदमी हैं। ‘दादा’ का मतलब यू० पी० अथवा बंगाल में भाई होता है, लेकिन बम्बई की भाषा में दादा गुण्डे को कहते हैं। रहमान दादा भी अपनी जवानी में बम्बई के प्रसिद्ध गुण्डे थे। अब यद्यपि उन्होंने गुण्डई छोड़ दी है, पर दबदबा उनका अब भी वही है। वे आप सेठों के बड़े काम के आदमी हैं। लगभग पाँच सौ एक्स्ट्रा उनके द्वारा बम्बई के विभिन्न फ़िल्मी स्टूडियो में काम पाते हैं, लेकिन किसी की मजाल है जो उनके सामने आँख उठा जाय।

रहमान दादा का परिचय पाकर दीक्षित जी ने फ़िल्मी स्टूडियो का परिचय पाया और इस या उस फ़िल्म में मूक-एक्स्ट्रा के रूप में भीड़ का अंग बनने लगे। इनकी गप्पों पर आप न जाइए, मुझसे इनकी उस ज़माने की दिनचर्या सुनिए।—सुबह छै बजे उठते थे। रात कहीं काम करने से इन्हें सोने में देर हो जाती तो आठ बजे उठते (यों हैं मुर्ग के बाँग के साथ उठने वाले जीव)।

कहानी लेखिका और ज़ेहलम के सात पुल

नहा-धोकर और कभी बिना नहाये ये मलाड स्टेशन पहुँच जाते। पैसे होते तो एक-दो तोस या बिस्कुट लेते, नहीं सिंगल चाय का कप लेकर गाड़ी में जा बैठते और दादर आ उतरते। सबसे पहले खुदादाद सरकल में रहमान दादा के आफ्रिस पहुँचते और पूछते कि इनके लिए कोई काम है या नहीं, फिर वहाँ से बस पकड़ कर ठीक साढ़े दस बजे कोलाबा में कम्पनी के दफ्तर जा हाज़िरी बजाते और फिर दिन भर इस या उस इलाके में सिगरेटों का प्रचार करते सड़कों की खाक छानते। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि अपना प्रोग्राम ये ऐसे बनाते कि दिन में किसी-न-किसी कम्पनी के स्टूडियो का चक्कर लगा सकें। इतनी मेहनत से जो कुछ ये पाते, उसका अधिकांश पत्र-पुष्प रहमान दादा की भेंट कर देते। इस पर भी ये कभी दो वाक्य बोलने का अवसर न पाते, यदि इनके भाग्य से एक रात सहसा बोलने वाला एक्स्ट्रा एक्टर ऐन शूटिंग के वक्त बीमार न हो जाता। तब चूँकि उन्होंने 'प्रेम-वियोगिनी' के अपने सफल अभिनय का बड़ा रौब रहमान दादा पर जमा रखा था, इसलिए उन्होंने इनको उस भूमिका के लिए पेश कर दिया।

बोलने वाले एक्स्ट्रा का पाट चौकीदार का था। चौकीदार सेठ के बंगले पर पहरा दे रहा है कि कहानी का नायक, जिसे सेठ से बदला लेना अभीष्ट है, डाकू के भेस में आता है और सेठ के कमरे की छत पर दो-चार पत्थर फेंकता है। सेठ घबरा कर चौकीदार के पास आता है। तब चौकीदार कहता है—सेठ साहब घबराइए नहीं, जब तक दुर्जन की यह दोनाली कायम है, आपकी तरफ़ कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। जहाँ डाकुओं ने दुर्जन और उसकी दोनाली देखी कि उनकी रूह फ़ना हुई।”... लेकिन जब डाकू आते

हैं तो चौकीदार सेठ के पीछे छिप जाता है ।

दीक्षित जी को यह डायलाग मिला तो खुशी के मारे इनका दिल धक्-धक् करने लगा । “अजी यह डायलाग क्या, प्रेम वियोगिनी में मैंने ऐसे कई डायलाग इस तरह अदा किये कि सुनने वालों को आज तक याद हैं ।” इन्होंने अपने दिल की धड़कन को यथा-सम्भव काबू में रखकर सचेत बेपरवाही से कहा और आध-पौन घंटे में कम से कम दो सौ बार इस डायलाग को रट लिया । लेकिन जब ये चौकीदार बने, सेठ पर सेठ के सामने खड़े हुए, छोटी बड़ी सभी रोशनियाँ इन पर केन्द्रित हुई और डायरेक्टर ने कहा कि लाइट में देखते हुए अपने डायलाग बाँलो ता इनकी सिट्टी-पिट्टी कुछ ऐसी गुम हुई कि इन्हें कुछ भी याद न रहा । दसियों रिहर्सलों के बाद जब इन्हें डायलाग याद हुआ तो रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी; डायरेक्टर का दिमाग़ खराब हो गया था; सेठ की भूमिका में काम करने वाले अभिनेता की कमर दुखने लगी थी और स्टूडियो के कर्मचारी मन ही मन इन्हें गालियाँ दे रहे थे । आखिर जब डायरेक्टर ने यह समझकर कि डायलाग इन्हें याद हो गया है, कहा, “टेक !” और कैमरा चलने लगा तो जो कुछ ये बोले वह यों था—“सेठ, साहब घबराइए नहीं, जब तक दुर्जन की यह दोनाली कायम है, डाकुओं का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता ।”

अभी यह इतना ही कह पाये थे कि डायरेक्टर ने कहा, “कट !” और प्रोडक्शन सेक्रेटरी ने रहमान दादा को कोसना शुरू किया कि किस उल्लू के पट्टे को कैमरे के सामने ला खड़ा किया है । जिसे एक वाक्य तक बोलने की तमीज़ नहीं ।

यद्यपि निर्देशक चाहते थे कि सीन दूसरे दिन लिया जाय, लेकिन

कम्पनी को दो हज़ार का नुकसान हो रहा था, इसलिए प्रोडक्शन सेक्रेट्री नहीं माने। बहरहाल जब दो एक 'रि-टेक' के बाद सीन लिया गया तो जिस दृश्य से हास्य प्रस्तुत करना अभीष्ट था, उसे देखकर रोना आता था।

जहाँ तक रहमान दादा का सम्बन्ध है, ये उनके यहाँ फिर कभी नहीं गये, पर सौभाग्य से वह पिक्चर चल गयी। अब ये अपने चौकीदार के उस रोल का ऐसे ज़िक्र करते हैं, जैसे उस फ़िल्म की सफलता का एकमात्र कारण वही दृश्य था।

—लेकिन इस पर भी इन्हें इस बड़ी फ़िल्म कम्पनी में कैसे नौकरी मिल गयी? बस यही तो साहब इनके ढीठपने का कमाल है। कोई दूसरा होता तो दूसरे दिन बम्बई से टिकट कटा लेता। लेकिन महेश दीक्षित उन आदमियों में से नहीं। लोग कहें इसे बेशर्मी, ये इसे साबतक़दमी कहते हैं। बदस्तूर डटे रहे। अब उन दिनों रहमान दादा ही से इनका सम्बन्ध नहीं टूटा, सिगरेट कम्पनी के दफ़्तर से भी इनका पत्ता कट गया था। लेकिन तब यह सिगरेटों की ब्लैक मार्केट करने लगे। जंग का ज़माना था। ऊँचे दर्जे के विदेशी सिगरेट नायाब थे। सिगरेटों का प्रचार करते-करते इन्होंने उन सब लोगों से राह-रस्म पैदा कर ली थी जो सिगरेटों की ब्लैक करते थे। नौकरी छूटी तो ये भी वही धंधा करने लगे। गोदियों पर जाकर वहाँ जहाज़ों में आने वाले अमरीकी सैनिकों से सस्ते दामों सिगरेट ख़रीद लाते और दुगुनी-तिगुनी क़ामतों पर फ़िल्मी एक्टरों, डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों को बेचते। इसी में इन्होंने एक डायरेक्टर को आठ-दस डिब्बे बढ़िया सिगरेट देकर खुश कर लिया। और कम्पनी के स्टूडियो में बाक़ायदा नौकर हो गये। लेकिन कंट्रोलर से पूछ देखिए। ये सिर्फ़ दो सौ

हीरो का रोल

रूपया पाते हैं। हीरो-वीरो नहीं, केवल एकस्ट्रा के रूप में नौकर हुए हैं।

नौकर तो हो गये, पर चाँस इन्हें अभी तक नहीं मिला। और न ही इनके जीवन का क्रम बदला। पहले दिन भर बम्बई की सड़कें नापते थे, अब स्टूडियो की सड़कें, उसके बाग की रविशों और कमरों के फर्श नापते हैं। काम हाँ न हो, इन्हें समय पर स्टूडियो पहुँच जाना पड़ता है। दिन का कोई समय हाँ आप इन्हें किसी डायरेक्टर के आफिस में, मेकअप-मैन के कमरे में, असिस्टेंट डायरेक्टरों की अर्दल में, म्यूजिक रूम, प्रोजेक्शन रूम, कैंटीन या कुंज में बातें करते देख सकते हैं। नये डायरेक्टरों अथवा एक्टरों से चिपके रहते हैं। इनकी बातों का विषय वही 'प्रेम वियोगिनी' में इनका अद्वितीय अभिनय अथवा पहली ही फ़िल्म से अपनी एक्टिंग की धाक जमाकर इस बड़ी कम्पनी में नौकरी पा जाना अथवा किसी डायरेक्टर द्वारा अगली फ़िल्म में हीरो बनाये जाने का वचन पाना होता है। जब ये एकस्ट्रा लोगों के साथ हाँते हैं तो बड़ी 'दून की लेते हैं। प्रायः वर्तमान फ़िल्मी नायकों की चुगुदीयत और एक्टर-एक्ट्रेसों की आलोचना करते हुए उनके अभिनय की नितान्त असफलता का उल्लेख करते हैं और इस बात का सतत् प्रयास करते हैं कि कम्पनी की नयी फ़िल्म में अव्वल तो हीरो, नहीं तो साइड हीरो का रोल इन्हें जरूर मिले। अपनी इस आक्रोश की पूर्ति के लिए निरन्तर उन लोगों के घर भी हाज़िरी बजाते हैं जिन्हें ये चुगुद समझते हैं और निसंकोच भाव से उनका छोटे से छोटा काम करने को तत्पर रहते हैं। इनके इस प्रयत्न के फलस्वरूप हर फ़िल्म के शुरू में प्रायः इनका टेस्ट होता है, पर जाने क्यों, ये अभी तक न हीरो बने और न साइड हीरो। छोटे-मोटे दृश्यों में भीड़ का अंग ये अब भी बनते हैं और उस दृश्य को जिसमें ये होते हैं जाकर प्रोजेक्शन रूम में कई बार देखते हैं

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

और, जब फ़िल्म रीलीज़ होती है तो अपने मित्रों को ले जाकर दिखाते हैं। और—

इसी उम्मीद पर मीलों चले जाते हैं दीवाने
 वो उठा पर्दा-ए-महमल, वो निकला हाथ महमल से
 के अनुरूप रोज़ नयी उम्मीद लेकर स्टूडियो आते हैं और निराश
 वापस जाकर सिंगल चाय का कप गले के नीचे उतार कर मलाड के
 अपने उसी भोंपड़े में जा सोते हैं।

—आप इन्हें हीरो का रोल देंगे ! आप कहते क्या हैं ? आप
 निश्चय ही इनके नाक-नकशे, डील-डौल और गप्पों से प्रभावित हो
 गये हैं। अजी साहब मैं आपको खबरदार किये देता हूँ, आप रो
 देंगे। मैं सात बरस से इनके साथ हूँ और मैंने आपको एक बात भी
 गलत नहीं बतायी।

—जी मैं यहाँ क्या करता हूँ ?—मैं भी एक एक्स्ट्रा हूँ। लेकिन
 डायरेक्टर मेहरोत्रा अपनी अगली फ़िल्म में मुझे साइड हीरो
 का रोल दे रहे हैं। मैं तो बहुत पहले हीरो हो गया होता, लेकिन
 दुर्भाग्य से ऐन शूटिंग के वक्त बीमार हो गया। वह चौकीदार जिसका
 पार्ट मदेश दीक्षित को मिला, दुर्भाग्य से मैं ही था।

—मुझे क्या हो गया था ? अब क्या बताऊँ ? मैं मेक-अप किये
 सेट पर तैयार खड़ा था, डायरेक्टर ने लाइट्स ऑन करने का आदेश
 दे दिया था। वह सीन लेने का आदेश देने जा रहे थे कि मेरे पेट में
 जोर का दर्द उठा। मेरे शत्रु कहते हैं कि मैं नर्वस हो गया था।
 लेकिन यह बिलकुल झूठ है, मुझे शूल-रोग ने आ घेरा था। इतनी
 पीड़ा मुझे कभी नहीं हुई। सच जानिए, रहमान दादा को आज तक
 इसका खेद है। मैं उनका चहेता एक्स्ट्रा हूँ। आप ज़रा मेरा टेस्ट
 तो लेकर देखिए !

**कहानी लेखिका
और
जेहलम के सात पुल**

जिस शाम कहानी-लेखिका के मन में जेहलम के सात पुलों को लेकर एक सुन्दर कहानी लिखने का विचार उठा, उस दिन पहली बार उसे श्रीनगर अञ्छा लगा था । रात उसने केस्टोफ़िन की एक गोली ले ली थी—हफ़्ते से पेट में हवाएँ डुड़दंग मचाये थीं, भूख प्रायः गायब थी और कहानी-लेखिका के माथे में हल्का दर्द, नसों तनी और मिज़ाज का पारा चढ़ा रहता था और वह अपने व्यापारी पति से निरन्तर अनुरोध करती थी कि उन्हें ‘विशात’ और ‘शालामार’, ‘नसीम’ और ‘चश्मा शाही’, ‘डल’ और ‘नगीन’ के आकर्षण छोड़कर सीधे पहलगौंव चलना चाहिए ! ‘यह गन्दा गलीज़ श्रीनगर भी क्या किसी शरीफ़ आदमी के रहने की जगह है,’ वह कहा करती थी । लेकिन केस्टोफ़िन की एक गोली ने अपना चमत्कार दिखाया । आठ दिन में पहली बार उसे भूख लगी, खाना रुचा, दोपहर को गहरी नींद आयी और जब शाम की चाय के बाद वह अपने पति और दस वर्षीय चंचल बच्चे के साथ बाहर जाने को तैयार हुईं तो उसका मन अत्यन्त

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

उत्फुल्ल था। हल्की-सी बूँदिनियाँ बरस गयी थीं, जो हवा को ठंडक और वातावरण को ताज़गी प्रदान करती गयी थीं। अपने चंचल बच्चे का हाथ थामे, अपने पति के दायें चलती हुई, कहानी-लेखिका 'गन्दे, गुँजान बाजारों में धक्के खाने' के बदले बाँध की ओर चली। अमीराकदल (याने पहले पुल) से शुरू होकर यह बाँध श्रीनगर क्लब से आगे तक जेहलम के साथ-साथ चला गया है। शिमला, मसूरी और नैनीताल में माल को जो स्थान प्राप्त है, वही श्रीनगर में इस बाँध को प्राप्त है, जिसे अँगरेज़ों की नकल में काश्मीरी प्रायः 'बंड' के नाम से पुकारते हैं। एक ओर बड़ी-बड़ी दुकानें हैं और दूसरी ओर जेहलम और बीच में साफ़ और शफ़ाफ़ सड़क।

वे अभी पेपर मैशी और बुड-कार्विंगवाले 'सुभाना दि वर्स्ट' के निकट पहुँचे थे और कहानी-लेखिका सोच रही थी कि कम्बख्त ने कैसा आकर्षक नाम रखा है कि बाँध की मुँडेर पर बैठे एक हाँजी ने उछलकर उठते और आगे बढ़कर बड़े आदब से सलाम करते हुए कहा "मेम साब, शिकारा ! चलिए, नेहरू पार्क, सेवन ब्रिजेज़ की सैर करायेगा !"

कहानी-लेखिका जब भी बाँध पर आयी थी, इस आदमी ने उसे सलाम किया था। उसे सलाम से नफ़रत थी। सलामों के बाहुल्य से खीझकर वह सोचा करती थी कि ये लोग क्यों सलाम के इतने आदी हैं। चलती मोटरों और बसों को देख, छोटे-छोटे बच्चे खेल छोड़कर हाथ माथे पर ले जाते हैं। मोटर और बस गुज़र जाती है, पर वे हाथ माथे पर रखे उसकी ओर देखते रहते हैं। कहानी-लेखिका एक दिन बाँध पर कॉफ़ी-हाउस की ओर से अमीराकदल की ओर आ रही थी कि डाकखाने के बराबर एक छोटी-सी गली में एक नन्हों-सी लड़की

शलवार का आज़ारबन्द थामे, उसे बाँधने की कोशिश कर रही थी। कहानी-लेखिका को आते देखकर, उसने झट बायें हाथ से आज़ारबन्द थाम, दायों माथे पर रख दिया, 'मेम साब सलाम!' और दया के बदले क्रोध की लहर कहानी-लेखिका के मन में दौड़ गयी थी। अंग्रेज़ ज़रूर इन लोगों को सलाम करने पर बख़शीश देते होंगे, पर ये लोग क्यों नहीं समझते, क्यों अपने बच्चों को नहीं समझाते कि हम अंग्रेज़ नहीं, उनके हाकिम नहीं, उन्हीं-जैसे हैं!—पर उस शाम मीठी-मीठी हवा रमक रही थी, दायीं ओर, जेहलम के पार, दूर पीर पञ्चाल के पहाड़ों की नीली-नीली चोटियों पर बर्फ़ की लकीरें बड़ी भली लग रही थीं, कहानी-लेखिका खुश थी। उसे हाँजी का सलाम करना बुरा नहीं लगा। उसने अपने पति से कहा, "चलिए, सेवन ब्रिजेज़ की सैर कर आयें।"

कहानी-लेखिका के पति भी खुश थे। उसी दिन अपने एक मित्र से बातें करते हुए उन्हें मालूम हुआ था कि इस वक्त जिन चीज़ों की कीमतें आसमान छूती हैं, सर्दियों में जब माँग नहीं रहती, एकदम ज़मीन पर आ रहती हैं। कारीगर लोग लाभ का खयाल छोड़कर, लागत पर ही, अपनी मेहनत के दाम निकालकर, चीज़ें बेच देते हैं। लकड़ी सस्ती, फल सस्ते, शाल-दोशाले, पट्टू, नमदे, गम्भे, हर चीज़ सस्ती। और तो और कस्तूरी का नाफ़ा, तक बीस-पच्चीस में हाथ आ जाता है।

"बीस-पच्चीस में?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा था, "जब कि नीचे शहरों में पचहत्तर-अस्सी तक हाथ नहीं आता।"

"सर्दी में, जब कोई काम नहीं होता," उनके मित्र ने बताया था, "पहलगॉंव और गुलमर्ग के आस-पास रहने वाले गूजर चार-चार,

पाँच-पाँच की टोलियों में निकल जाते हैं, बफें नीचे तक पड़ जाती हैं, कस्तूरी मृग भी नीचे आ जाते हैं और ये लोग उन्हें मार लाते हैं और उनके नाफ़े निकालकर बीस-पच्चीस में दे जाते हैं।”

और कहानी-लेखिका के पति सोच रहे थे कि दिल्ली में बीमा एजेंटी की भाग-दौड़ के बाद चार-पाँच सौ पैदा करने की अपेक्षा क्यों न वे सर्दियों में काश्मीर आयें और सस्ते दामों पर चीज़ें ख़रीदकर सीज़न में मंहंगे दामों बेचें....और कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने काश्मीर में काम शुरू कर दिया था और लखपति बने जा रहे थे.... और वे उस शाम बड़े प्रसन्न थे और उनका जी चाह रहा था कि वे नेहरू पार्क जायें और रेस्तोरों के कोने में कुर्सी पर बैठकर नीचे डल में खिलनेवाले कमलों की बहार देखते हुए कल्पना के जाल बुनें। इसलिए उन्होंने कहा, “शाम हो गयी है, सात पुल देखने के लिए समय चाहिए, चलो नेहरू पार्क चलते हैं।”

“नेहरू पार्क दो बार देख लिया,” कहानी-लेखिका बोली, सातों पुल देख लें, फिर पहलगॉव चलें।

“लेकिन शाम हो गयी है।”

“नहीं, साब, अभी टाइम है। सातों पुल दिखा लायेगा।”

हॉजी मेम साब की बात के समर्थन में बोला।

और कहानी-लेखिका के पति मान गये थे।

हॉजी ने उन्हें शिकारे में बैठाकर, बच्चे के हाथ में एक छोटा-सा चप्पू दे दिया था, जिसे पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और नम (शिकारे के अगले हिस्से की अनछुती तिकोन) पर बैठकर चप्पू चलाने लगा। कहानी-लेखिका अपने पति के साथ शिकारे की नर्म, चौड़ी, रंगीन, गद्देदार स्प्रिंग-सीट पर आराम से पीछे को लेट गयी।

जेहलम के दोनों किनारों पर हाउस-बोट गुज़रे जा रहे थे । उनके आस-पास से टेक्स-शिकारे अपनी गम्भेदार सीटों और रंगीन पदों के साथ, बड़ी तेज़ी से इधर-उधर जा रहे थे, सामान से भरी कोई बहत्स (सामान ढोनेवाली बड़ी किश्ती) या डोंगा भी गुज़र जाता । कहानी-लेखिका लेटे-लेटे, अर्धनिमीलित नेत्रों से वह सब देख रही थी । मोड़ पर अफ़राबट का पहाड़ ऐन सामने आ गया और शिकारे के दो डंडों में से उसकी चोटी पर फैली बर्फ़ की धारियाँ उसे बड़ी भली लगीं ।

~~अमीराकदल~~ अमीराकदल के पुल के नीचे से गुज़रने वाला पानी का बड़ा पम्प शायद पुराना होकर छिद गया था और पानी धारों में पुल के नीचे टपक रहा था । ऊपर लोग आ-जा रहे थे । एक बस पों-पों करती निकल गयी और फिर एक ट्रक पुल को कँपाता गुज़र गया । कहानी-लेखिका को यह सब बड़ा अच्छा लगा । पर उसका लड़का चप्पू चलाते-चलाते बुरी तरह झुक जाता था और उसे डर था, कहीं वह पानी में न गिर जाय और वह चिल्ला उठती, “अरे तिकके बेटा, सम्हाल कर !” और उसका ध्यान बँट जाता ।

लेकिन वे उस शाम पाँचवें पुल से आगे न जा सके थे । तीसरे पुल के बाद दायीं ओर लकड़ी की अजीब-सी ऊँची इमारत खड़ी थी, जिसकी छत पैगोडों-ऐसी थी । पूछने पर मालूम हुआ कि शाह हमदान की समाधि है और लोग बड़ी-बड़ी दूर से उसे देखने आते हैं । उन्होंने उसे देखने की इच्छा प्रकट की और शिकारेवाला उन्हें दिखाने ले चला ।

अभी शिकारा तट से लगा भी न था कि बच्चा कूद पड़ा । कहानी-लेखिका का दिल कॉप गया । पर उल्टी कमान की तरह पीछे

*** कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

को मुकता हुआ दूसरा कदम उठाकर वह गिरने से साफ़ बच गया । किनारे पर पहुँचकर, हल्का-सा थपेड़ा उसके गाल पर जमाते हुए, कहानी-लेखिका ने उसे चूम लिया ।

लेकिन शाह हमदान के मकबरे के अन्दर जाने की उसे इजाज़त न मिली । अन्दर नमाज़ की तैयारी हो रही थी और उस समय औरतें वहाँ न जा सकती थीं । उसके पति गये और चार आने चढ़ा आये । हाँजी ने कहा कि वे किसी दिन बारह से पहले आयें तो वह 'मेम साब' को भी अन्दर ले जायगा । उस वक्त उसने कहानी-लेखिका को बगल के ओसारे की भिरी में से अन्दर का बड़ा हाल-कमरा दिखा दिया । हाल दी दीवारें लकड़ी की थीं, जिन पर कुरान की आयतें खुदी थीं और नक्काशी का काम किया हुआ था । छत पर बड़े कीमती भाड़-फ़ानूस टँगे थे ।

शाह हमदान का मकबरा देखते-दिखाते देर हो गयी । पाँचवें पुल तक पहुँचते-पहुँचते आँधरा छा गया । कहानी-लेखिका के पति ने कहा कि वापस चलना चाहिए । हाँजी ने भी हामी भरी । वे वापस फिरे ।

सिवा इसके कि अपने लड़के की चंचलता के कारण उसके गिर जाने का डर उसे बना रहा, कहानी-लेखिका को शिकारे की यह सैर बड़ी अच्छी लगी ।

रात को खाना खाकर और 'चौरासिया' के बढ़िया पान से मुँह का स्वाद बदल, जब वे लेटे तो अचानक कहानी-लेखिका ने अपने पति की बगल से अपने सिर को चिमटाते हुए कहा "मुझे एक बड़ी अच्छी कहानी सूझी है ।"

पति लाखों के सपने ले रहे थे । सहसा चौंककर बोले "कहानी ?"

"आज अगर हमने सातों पुल देखे होते और मैं अपनी नोट-

बुक ले गयी होती, तो मैं बड़ी ही प्यारी कहानी लिखती ।”

और उसने अपने पति को कहानी का स्याट सुनाया—एक युवती अपने पति और बच्चे के साथ सातों पुल देखने जाती है । बच्चा बड़ा चंचल है । आराम से शिकारे पर नहीं बैठता । कभी चप्पू चलाता है, कभी तैरती बतखों को पकड़ता है, कभी किनारे खेलते लड़कों से मज़ाक करता है । माँ पुलों के आस-पास के बदलते दृश्यों का आनन्द पूरी तरह नहीं उठा पाती । दिल उसका धड़कता रहता है । बच्चे की सुरक्षा की चिन्ता उसे ठीक से कुछ देखने नहीं देती । लेकिन अंत में जब वह शिकारे के नम पर जा खड़ा हो जाता है और वह इसी स्नेह-भरी चिन्ता के कारण भयभीत होकर चिल्लाती है—सम्हल बेटे ! — तो वह जेहलम में जा गिरता है ।

कहानी का आधारभूत विचार सुनाकर लेखिका ने अपने पति से पूछा, “कैसी है ?”

पति बीच में एक ‘ढोंका’ ले चुके थे । अचानक चौंके, “क्या ?”

“कहानी ?”

“अच्छी है, अच्छी है !” और उन्होंने अपनी लेखिका-पत्नी को ज़रा-सा पहलू से भींच लिया ।

“मैंने नोट लिये होते, तो अभी लिख देती ।” कहानी लेखिका गर्व से बोली ।

“कल फिर सेवन ब्रिजेज़ देखने चलेंगे, ठीक से नोट ले लेना ।” पति ने उदारता से कहा । अब जब वह लखपति होने जा रहा था तो इन तीन-साढ़े तीन रुपयों का मुँह क्या देखता !

कृतज्ञता के बोझ से कुनमुनाकर कहानी-लेखिका पति से चिमट गयी । लेकिन दूसरे क्षण वह हल्के-हल्के खर्राटे लेने लगा था ।

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

दूसरे दिन उसके पति को समय नहीं मिला। वह अपने प्रस्तावित व्यापार के लिए पूछ-ताछ करता फिरा और तीसरे दिन जब फिर कहानी-लेखिका ने सेवन ब्रिजेज़ चलने की बात कही तो उसका मन जाने को ज़रा भी न था। अपने उस व्यापारी मित्र को जब उसने अपनी स्कीम बतायी और उसने खर्च का हिसाब बताया तो उसे सुनकर कहानी-लेखिका के पति का सारा उत्साह जाता रहा। “इस स्कीम को अमली जामा पहनाने के लिए,” उसके मित्र ने सुझाया, “हज़ारों रुपये दरकार होंगे। लकड़ी और पेपर मैशी की चीज़ें, अखरोट, बादाम, शाल-दोशाले, नमदे, गम्भे और ग़ालीचे, कीमती पत्थर और कस्तूरी, इस सब को सस्ते दामों खरीदने और बेचने का प्रबन्ध करने के लिए हज़ारों, हज़ारों नहीं, लाखों रुपये दरकार हैं। बाँध अथवा जेहलम के दोनों किनारों पर ऐसे व्यापारी हैं, जो एक साथ बहुत सी चीज़ों का व्यापार करते हैं, पर वे लखपति हैं और वे ही पाँच रुपये की चीज़ को पचास रुपये में बेच सकते हैं। हमारा तुम्हारा बस नहीं। तुम यहाँ काम करना चाहो तो एक चीज़ चुन लो, जिसमें तुम काम शुरू करोगे। लेकिन इस तरह शुरू करने में, मुकाबिला जितना सख्त है, उसे देखते हुए, तुम उतना भी न कमा पाओगे, जितना तुम दिल्ली में कमाते हो। यहाँ काश्मीर में, छः महीने कमाना और छः महीने बैठकर खाना पड़ता है, वहाँ थोड़ा भी कमाओ, पर साल भर तो कमा सकते हो।”

और कहानी-लेखिका के पति चाहते थे कि खाना खाकर चुपचाप जाकर सो जायँ, लेकिन बच्चा सुबह से नेहरू पार्क जाकर तालाब में नहाने और कहानी-लेखिका सात पुलों की सैर करके नोट लेने की बात कर रही थी। रात गर्मी ज़्यादा थी और खटमलों और मच्छरों ने सोने

न दिया था और कहानी-लेखिका के पति की आँखें भिची जा रही थीं। लेकिन जब माईसुमा बाज़ार के एक सस्ते से ढाबे पर खाना खाने के बाद कहानी-लेखिका ने फिर सात पुल देखने की बात की तो सहसा झुंझलाकर उन्होंने कहा, “देखना है तो अभी चलो। दोपहर को लेंगे तो नींद आ जायगी और शाम की चाय आदि के बाद चलेंगे तो फिर वही पाँचवें पुल तक जा पायेंगे।

बच्चे ने कहा, “हम नेहरू पार्क जायेंगे।”

उसे पिता ने डाँट दिया कि आज तुम्हारी माँ नोट ले ले, तुम कल जाकर वहाँ नहा लेना।

कहानी-लेखिका के मेदे में फिर कुछ गड़बड़ थी। सिर में भी हल्का-हल्का दर्द था। रात की अनिद्रा के कारण आँखें भी बन्द हुई जाती थीं और वास्तव में वह शाम ही को सात पुलों की सैर करना चाहती थी, लेकिन फिर जाने उसके पति का मूड हो, न हो, इसलिए उसने सोचा कि नोट तो ले ही लिये जायँ। कहानी तो फिर भी कभी लिखी जा सकती है।

“मैं ज़रा होटल से पैड और पेंसिल ले लूँ।” उसने कहा, “फिर चलते हैं।”

और वे होटल को वापस फिरे, जहाँ उन्होंने अढ़ाई रुपये रोज़ पर एक कमरा किराये पर ले रखा था और जहाँ वे केवल सोने या आराम करने आते थे।

होटल पहुँचे तो कहानी-लेखिका ने चलने से पहले ज़रा-सा ‘मेक-अप’ करना ज़रूरी समझा। पति इतने में जूतों-समेत (जूते पलंग की पट्टी के एक ओर करके) लेट गये। मेकअप करके कहानी-लेखिका ने शीशे में देखा तो दोपहर की गर्मी, रतजगे, सिर दर्द और मूड की

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

खराबी के कारण उसने अपनी सूरत को कुछ उतरा पाया। तब हल्के से पाउडर और रूज की मदद से उसे कुछ ताज़ा कर और किंचित संतुष्ट होकर, उसने पैड उठाया, पर पेंसिल उसे नहीं मिली। मुँहलाकर उसने लड़के से पूछा, “तिकके, पेंसिल कहाँ है?”

“मुझे नहीं मालूम, ममी।” और वह जाकर बरामदे में उछलने लगा।

कहानी-लेखिका ने सब जगह देखी, पेंसिल उसे नहीं मिली। उसके पति इस बीच नाक बजाने लगे थे। क्रोध की मारी वह धड़धड़ाती हुई बाहर गयी और बच्चे का कान पकड़कर उसे लगभग घसीटते हुए अन्दर ले आयी।

“पेंसिल कहाँ रखी तूने?” वह चिल्लायी।

उसके पति ने करवट बदली, उनके जूते पलंगपोश पर आ गये और वे फिर नाक बजाने लगे।

कहानी-लेखिका ने एक आग्नेय दृष्टि अपने पति पर डाली। वह अपनी मुँहलाहट बच्चे पर निकालने ही वाली थी कि पेंसिल उसे मेज़ के नीचे, दीवार के साथ लगी दिखायी दी।

मन में वह खिन्न हुई। पर अपनी खिन्नता उसने बच्चे पर नहीं प्रकट होने दी, “यह देख, कहाँ गिरा दी तूने पेंसिल!” उसके कान को ढीला छोड़ते हुए वह चिल्लायी।

“मैंने नहीं गिरायी, ममी!” और वह मुँह बिसूरकर रोने लगा।

पेंसिल मेज़ के नीचे से उठाकर, बच्चे को गले से लगा और चप्पू-समेत एक छोटा-सा शिकारा उसे लेकर देने का वचन देकर, कहानी-लेखिका ने बड़ी मुश्किल से उसे चुप कराया और फिर पति के निकट जाकर उन्हें हिलाते हुए वह बोली, “चलेंगे नहीं?”

पति हड़बड़ाकर उठे और बाहर को चल दिये । अपनी गर्दन का पसीना भी उन्होंने बरामदे में जाकर पोंछा ।

बाहर गर्मी ऐसी थी जैसी मैदानों में । धूप में आँखें न टिकती थीं । पलेडियम के सामने से, हरिसिंह हाई स्ट्रीट से होते हुए वे पुल पर पहुँचे । अभी वे कुछ दूर ही थे कि पुल के जंगले पर बैठे हुए दो हाँजी छल्लाँग मारकर उतरे ।

“साब, शिकारा !”

“सेवन ब्रिजेज़ देखने चलेंगे, बोलो, क्या लोगे !” बिना रुके और बाँध की ओर को बढ़ते हुए कहानी-लेखिका के पति ने पूछा ।

“चलिए, साब, साढ़े तीन रुपया ! खूब अच्छी तरह सैर करायेगा ।”

उसके आगे से होकर, जंगले को पार कर, बाँध पर आते हुए पति बोले, “मियाँ, वह ज़माना लद गया, जब खलील खाँ फ़ास्ता उड़ाया करते थे ।”

“खलील खाँ !... फ़ास्ता !...” हाँजी चकराया ।

“सीज़न ख़त्म हो गया । साढ़े तीन का ज़माना लद गया ।” पति महोदय ने समझाया ।

“साब, गवर्नमेंट का रेट है !”

“गवर्नमेंट का रेट है तो मज़े करो ।” कहानी-लेखिका के पति ने निरन्तर चलते हुए कहा, “अभी कुछ ही दिन पहले हम सात पुल देखने गये थे और हमने अढ़ाई रुपये दिये थे ।” उन्होंने बल्फ़ किया ।

हाँजी पीछे रह गया । जब वे ज़रा दूर निकल आये तो हाँजी ने

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

पीछे से आवाज़ दी, “आ जाइए साब !”

कहानी-लेखिका के पति बढ़ते गये । उन्हें अफ़सोस हुआ कि अढ़ाई के बदले उन्होंने दो क्यों नहीं कहा । कदम बढ़ाकर उनके साथ चलते हुए कहानी-लेखिका बोली, “हम परसोंवाले हॉजी के शिकारे पर जायेंगे, वह बड़ा भला आदमी है ।”

तभी एक छोटा-सा लड़का पिछले शिकारेवालों की टोली से निकला और भागता हुआ उनके पास से होकर अगले शिकारेवालों की टोली में जा मिला । वहाँ नीचे जेहलम में पाँच-सात शिकारे सवारियों की प्रतीक्षा में खड़े थे और उनके हॉजी ऊपर बाँध पर बैठे आते-जाते मुसाफ़िरों से पूछ-ताछ कर रहे थे । वहाँ पहुँचकर उसने काश्मीरी में कुछ मिसकौट की और अभी कहानी-लेखिका और उसके पति उनसे दूर ही थे कि एक हॉजी ने बढ़कर उनका रास्ता रोक लिया और कहा “साब, चलिए, सेवन ब्रिजेज़ ले चलेगा ।”

“हम उसी शिकारे पर चलेंगे !” कहानी-लेखिका भिनभिनायी ।

उसके पति की आँखें गनोदगी के मारे भिँची जा रही थीं, पर उन्होंने संयम से काम लेकर कहा, “दो रुपये मिलेंगे ।”

“अढ़ाई रुपया लेगा ।”

“नहीं, दो मिलेंगे ।” बिना रुके उन्होंने कहा ।

“अच्छा, आइए ।”

“हम उसी शिकारे पर चलेंगे !” कहानी-लेखिका ने खिभलाहट से कहा ।

लेकिन उसके पति बाँध से नीचे उतर चुके थे । उसका बच्चा उसकी आँगुली छोड़कर अपने पिता के पास भाग गया था । विवश हो कहानी-लेखिका भी उनके पीछे-पीछे उतरी, लेकिन शिकारे के पास

पहुँचकर उसने कहा, “हम सब बाज़ार देखेंगे !”

“जी, दिखायेगा ।”

“छोटा डॉड है !” त्रिलोक बोला ।

“जी है ।”

और वे तीनों शिकारे में जा बैठे ।

“बाबू, हाथ अन्दर करो !” शिकारे को दूसरे शिकारों की भीड़ में से निकालते हुए शिकारेवाले ने बच्चे से कहा, जो अपनी ओर से भी शिकारा निकालने में मदद करने की कोशिश कर रहा था ।

“तिकके, आराम से बैठो । बौंह शिकारों में पिस जायगी ।”

कहानी-लेखिका चीखी ।

शिकारे को बाहर निकालकर, उसका मुँह पुल की ओर करके, शिकारेवाला बौंध पर चला गया ।

✱

धूप बहुत तेज़ थी और बायीं तरफ़, जिधर कहानी-लेखिका बैठी थी, सीधी शिकारे के गद्दे पर पड़ती थी । कहानी-लेखिका के पति गद्दे पर लेटते ही ऊँघने लगे थे, तिका किशती के नम पर बैठा छोटे चप्पू के लिए चिल्ला रहा था और कहानी-लेखिका के सिर में ज़ोर की पीड़ा होने लगी थी ।

“ऐ तिकके ! चुप भी कर, आ जाता है चप्पू,” और बच्चे को यों डाँटकर, अतीव विवशता और खिन्नता से वह तिनककर उठी, बायीं ओर का पर्दा शिकारे के ऊपर को पड़ा था, कहानी-लेखिका का कद छोटा था । एक बार कोशिश करने पर पर्दा नीचे नहीं गिरा ! वहीं लेटे-लेटे एक आग्नेय दृष्टि उसने अपने सोये हुए पति पर डाली

*** कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

और फिर कोशिश करके पर्दा खींच डाला। तभी हॉजी नीचे आता दिखायी दिया।

“कहाँ चला गया था, हमें बैठाकर ?” वहीं से वह चिल्लायी।

“दूसरे आदमी को लाने गया था।”

“पर्दा ठीक करो, बड़ी धूप है।”

और ज़रा-सी बाँह हिलाकर उसे खोलने के बदले, शिकारेवाले को आदेश देकर, वह घप्प से स्प्रिंगदार गद्दे पर बैठ गयी।

हॉजी ने आकर पर्दा खींच दिया। बच्चा डॉड के लिए चिल्ला रहा था। हॉजी ने उसे डॉड लाकर दिया और शिकारे को बढ़ा ले चला।

“क्या अकेला ही चलायेगा ?”

“दूसरा आदमी आता है, मेम साब !”

कहानी-लेखिका पीछे को लेट गयी। वह आँखें बन्द करने लगी थी कि उसने देखा, बच्चा डॉड को किनारे के एक हाउस-बोट से टिकाकर उस पर ज़ोर डाल रहा है।

“ऐ तिकके ! मरे, आराम से बैठ ! पानी की धार पर जाते हुए ऐसा नहीं करते। गिर जायगा।” वह उठकर चिल्लायी।

बच्चा चौंककर सीधा बैठ, डॉड चलाने लगा। कहानी-लेखिका फिर पीछे को लेट गयी, उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके सिर का दर्द बढ़ गया था; आँखें भिंची-भिंची जाती थीं; सीने में भारीपन था; खाना जैसे गले में अटक था। वह खीझ-भरी विवशता से फिर उठी। बटुए से उसने सोझामिंट की एक छोटी-सी शीशी निकली और तीन गोलियाँ एक साथ मुँह में डालकर लेट गयी।

लेकिन पहले पुल के इधर ही शिकारा रुक गया।

“अब क्या बात है, चलता क्यों नहीं ! यहीं एक घंटा लगा दिया ।”

“बस मेम साब, अभी चलता है । वह दूसरा आदमी आ रहा है ।

तभी कहानी-लेखिका ने देखा, पुल के साथ ही, जहाँ शिकारे खड़े थे और जहाँ उन्हें पहले आदमी ने शिकारे के लिए पूछा था, एक युवा हाँजी एक हाथ में हुक्का और दूसरे में तमाखू की पुड़िया लिये हुए भागा आ रहा है । दूसरे मिनट वह पीछे आ बैठा और शिकारा चलने लगा ।

अमीराकदल के नीचे पानी पूर्ववत् धारों में चूर रहा था । शिकारा एक मोटी-सी धार के पास को चला कि कहानी-लेखिका भड़ककर उठी ।

“क्या करते हो, गन्दे पानी के नीचे लिये जा रहे हो !”

वह इतने ज़ोर से चिल्लायी कि उसका पति हठात् उठाकर बैठ गया ।

“क्या बात है ?” उसने पूछा ।

“गन्दे पानी की धार के नीचे शिकारा लिये जा रहे हैं ।”

“मेम साब, पानी गन्दा नहीं !” पीछे से शायद युवा हाँजी ने कहा ।

“गन्दा नहीं, तो क्या उसके नीचे ले जाओगे ?”

“उसके नीचे नहीं जाता, मेम साब !”

“बको नहीं !” कहानी-लेखिका चीखी । फिर उसने अपने पति से अंग्रेज़ी में कहा, “ये नम्बरी बदमाश हैं, आपसे कहा था कि उस परिचित शिकारे पर चलिए, पर आप माने नहीं ।”

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

उसके पति ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। शिकारा तेज़ी से बढ़ने लगा। हाउस-बोट पुल के इस पार ही रह गये थे। उस पार दोनों किनारों पर हॉजियों के ढोंगे थे। इन्हींमें वे अपने परिवार-सहित रहते, सोते, खाना पकाते और खाते थे। इन्हींमें वे जन्म लेते और मर जाते थे। कुछ जो खाते-पीते थे, उनके ढोंगों पर शिंगल या तख्तों की छतें थीं, कुछ के ढोंगे बगुओं से ढके थे, लेकिन अधिकांश घास-फूस से छाये थे। छतों के अनुसार ही उनके रसोई-घर और सोने बैठने के कमरे और उनका सामान था।

कभी किसी ढोंगे के रसोईघर की खिड़की से कोई सुन्दर मुख क्षण भर को भाँकता; कोई गिरस्तन ज़रा-सा बाहर को झुककर कोई बर्तन जेहलम के पानी में धोती और फिर पीछे को हो जाती; कोई गोरा हाथ बिजली-सरीखा लोटे से पानी भरता और फिर छिप जाता; कोई गोरा मुख नीली-नीली आँखों का कौंधा फँकता और फिर ढोंगे के आँधरे में लोप हो जाता—पर कहानी-लेखिका इस सब से बेखबर, आँखें बन्द किये पड़ी थी और उसके पैड और पेंसिल स्प्रिंगदार-सीट में उसी की तरह आराम कर रहे थे।

दोनों किनारों पर, जहाँ-जहाँ गलियाँ थीं, वहाँ सीढ़ियाँ और घाट बने थे। एक जगह बच्चे नहा रहे थे, निर्लज्ज और नङ्ग-धड़ङ्ग ! त्रिलोक को डौंड चलाते देखकर दो-तीन शरारती उसे डराने के लिए गड़ाप से पानी में कूदे, गोरे-चिट्टे, सुन्दर-स्वस्थ, गुलाबी गालों और तीखे नकशोंवाले, लेकिन इससे पहले कि वे शिकारे तक पहुँचते, शिकारा आगे निकल गया—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी रही।

बायीं ओर दो ढोंगों के बीच बारह-तेरह बरस की एक सुन्दर

गौर बाला तैर रही थी। कोई बेदिंग सूट या कपड़ा उसके तन पर न था। मछली-सरीखी वह पानी में डूब-उतरा रही थी—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी थी।

ज़रा आगे लकड़ी के लट्ठों से लदी एक बहत्स बड़ी ही मन्थर गति से चली जा रही थी। एक अघेड़ हाँजी, उसकी बीबी, उसका लड़का, लड़की या बहू बड़े-बड़े नुकीले डोंडों भी मदद से उसे खे रहे थे। बुढ़िया नम पर बैठे एक छोटे चप्पू की सहायता से उसे ठीक सेध में रखे थी, बाकी तीनों डोंड नदी में गाड़कर उन पर ज़ोर देते हुए ऊपर को चलते थे और उनके पैरों के ज़ोर से बहत्स आगे बढ़ रही थी। डोंड चलाने वालों के फ़िरन पसीने से ग़ाब थे, युवती का गोरा मुख मैल और पसीने से काला था और फ़िरन के अन्दर मैली-फटी कुर्ती भाँक रही थी, बटन लगाने की उसे सुध न थी और जब ज़ोर लगाते हुए बूढ़ा चिल्लाता, 'यौ पीर !' तो वह अपनी सास या माँ के साथ चिल्ला उठती, 'दस्तगीर !' और जैसे यही उनका एक मात्र सहारा हो, पीर का आह्वान करते, मशीन की-सी गति से डोंड चलाते हुए, वे चींटी की-सी चाल से कई सौ मन लकड़ी से भरी वह बड़ी कश्ती खेये जा रहे थे—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी थी।

दूसरे पुल के पार कहानी-लेखिका सहसा उठी। चिल्लाकर उसने शिकारेवाले से कहा, "तुम ने दूसरे पुल का बाज़ार नहीं दिखाया ?"

"अभी दिखाता है, मेम साब।"

"कहाँ दिखाता है, पुल तो गुज़र गया ?"

"अभी दिखाता है।"

और उसने शिकारे को बायें किनारे की ओर मोड़ा और एक

११ कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

छोटी, तंग गली की सीढ़ियों से लगा दिया। शिकारे के सीढ़ी को छूने के पहले ही एक व्यक्ति, जो घाट पर मछली की ताक में बगुले-ऐसा बैठा था, उच्चकर उठा।

“कुछ लकड़ी और पेपर मैशी का सामान देखेगा, साब ?”

“इन पेपर मैशी वालों ने परेशान कर दिया !” कहानी लेखिका के पति, जो अपनी पत्नी की चिल्लाहट सुनकर जग गये थे, हँसकर बोले, “जहाँ जाओ, लकड़ी और पेपर मैशी वाले पीछे पड़ जाते हैं।” और फिर उस व्यक्ति की ओर मुड़े, “हमें लकड़ी का सामान चाहिए न पेपर मैशी का। हम तो भाई, तमाशाई हैं, तमाशाई।”

लेकिन जब वे शिकारेवाले के साथ उसी गली के एक मकान में दाखिल हुए तो वही व्यक्ति उनके आगे-आगे था।

“यह कौन-सा बाज़ार दिखा रहे हो ?” पति ने शिकारेवाले से पूछा।

“यह बाज़ार है ?” कहानी-लेखिका चिल्लायी। वह अमीराकदल के दोनों ओर रौनक-भरी हरिसिंह हाई स्ट्रीट की तरह के बाज़ार की कल्पना करती थी।

“चलिए तो साब !” शिकारेवाला जैसे अपनी आवाज़ ही से उन्हें आगे धकेलता हुआ बोला और उनके पास से होकर आगे-आगे चला।

और वे उसके पीछे-पीछे पहले ब्योढ़ी और फिर आँगन से होते हुए दो सीढ़ियाँ चढ़कर एक कमरे के आगे रुक गये। अन्दर वही व्यक्ति किसी बड़े मोटे मुसलमान सेठ से, जिसने डोगरा राज की याद में पंडितों-जैसी पगड़ी बाँध रखी थी, कुछ बातचीत कर रहा था। शिकारेवाला दरवाज़े ही में रुक गया था, उसके पीछे कहानी लेखिका

के पति, वह स्वयं और उसका बच्चा रुक गये ।

• कहानी लेखिका के पति को लगा, वह सेठ को बता रहा है कि ये लोग कोरे तमाशाई हैं, खरीदने-उरीदने कुछ नहीं आये । और उनका अनुमान ठीक ही था, क्योंकि दूसरे क्षण उस सेठ ने अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों में खेद प्रकट करते हुए, लड़खड़ाती अँग्रेज़ी में कहा कि शो-रूम की चाभी मैनेजर के पास है, जो बाहर गया हुआ है और वे लोग कभी फिर फुर्सत में आयें ।

कहानी लेखिका के पति ने भी अँग्रेज़ी में कहा कि कोई बात नहीं और मुड़कर नीचे उतर गये ।

— तब शिकारेवाला बोला “चलिए, आपको फ़ैक्टरी में काम होता दिखायें ।” ‘साब’ और ‘मेम साब’ को खुश करने में वह कोई कसर न उठा रखना चाहता था । और वह अँगन के दूसरी ओर एक कमरे को जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ा । लेकिन जल्द ही पलटा । मालूम हुआ, फ़ैक्टरी बन्द है । वास्तव में उसी व्यक्ति ने काश्मीरी भाषा में चौकीदार को फ़ैक्टरी दिखाने से रोक दिया था ।

खीभ और भुँभलाहट से तिनतिनाती, पैर पटकती कहानी-लेखिका अपने बच्चे और पति से भी आगे जाकर शिकारे पर धम्म से गिर गयी, इतने जोर से कि शिकारा सीढ़ी से हट गया और उसके पति आकर सीढ़ियों पर रुक गये । तब उनके चंचल बच्चे ने शिकारे की रस्सी पकड़कर उसे खींचना चाहा । कहानी-लेखिका ने उसे डाँटा कि वह शिकारे को हाथ न लगाये, नदी में गिर जायगा । फिर जब शिकारेवाला आया और उसने शिकारा खींचकर बाप-बेटे को बैठाया तो वह उस पर बरस पड़ी कि उसकी मूर्खता से पुल इतना पीछे छूट गया । वे लोग ये गन्दी गलियाँ और पेपर मैशी की दुकानें देखकर क्या करेंगे, वैसी दुकानें

•• कहानी लेखिका और जेहलम के साथ पुल

तो बंड पर और अमीराकदल में काफ़ी हैं।

शिकारेवाला लम्बा आदमी था। शलवार, कमीज़ और सिर पर किशतीनुमा टोपी उसने पहन रखी थी, चेहरे पर चेचक के दाग और आँखों में विवश हीनता थी। उसने बेबसी से ज़रा-सा सिर हिलाकर कहा, “चलिए, मेम साब, आपको आगे दिखाता है।”

“पर पुल तो पीछे रह गया।”

“अगले पुल पर देखिएगा।”

और शिकारे के किनारे-किनारे पाँव रखता हुआ, छत के बाँसों को थामता, वह पीछे चला गया। कहानी-लेखिका और उसका पति झुँभलाये, उकताये, शिकारे की चौड़ी रंगीन गम्भेदार स्प्रिंग-सीट पर लेट गये। बच्चा पूर्ववत् नम पर बैठ, डॉड चलाने लगा। शिकारा सीढ़ियों से हटा और धार में बह चला।

“इस कम्बस्त को मालूम नहीं कि मुझे नोट लेने हैं, कहानी लिखनी है। दूसरा बाज़ार भी गुज़र गया।” कहानी-लेखिका भुनभुनायी और उसने आँखें बन्द कर लीं।

जब शिकारेवाले की आवाज़ पर उसने आँखें खोलीं तो तीसरा पुल गुज़र चुका था और शिकारा वैसी ही एक गली से लगा हुआ था।

“यह बाज़ार है ? तुम फिर गली में ले आये ?” कहानी-लेखिका उठने का प्रयास किये बिना चीखी।

“चलिए, ऊपर बड़ी भारी दुकान है।”

“दुकानें हमने बंड पर बड़ी देख लीं, हमें बाज़ार देखने हैं। हमने तुमसे पहले ही कह दिया था।

“यहाँ बाज़ार यही है। दुकानें दोनों किनारों पर हैं। यह खिज़र

मुहम्मद की दुकान है। वह देखिए, सामने 'गेनेमीड' का बोर्ड लगा है। आगे और दुकानें हैं। ऐसी एक भी दुकान 'बंड' पर नहीं।"

"हमें ये दुकानें नहीं देखनी, पुलों के दोनों ओर की दुकानें देखनी हैं। तुम हमें धोखे से ले आये हो और परेशान कर रहे हो। हमें यह सब नहीं देखना। हमें वापस ले चलो।"

लम्बा शिकारेवाला गली की सीढ़ियों पर आ गया था। कहानी-लेखिका उसी को सम्बोधित करके उबल रही थी। अचानक पीछे से आवाज़ आयी, "चलिए वापस, लेकिन हमारी मजदूरी हो गयी।"

"हाँ, हो गयी तुम्हारी मजदूरी!" कहानी-लेखिका चीखी, "एक बाज़ार नहीं दिखाया और मजदूरी हो गयी! तुमने हमें समझा क्या है?"

अब पति महोदय ने भी अपनी पत्नी की मदद को आना उचित समझा।

"तुम हमें अनजान मुसाफ़िर समझकर धोखे से ले आये," वे बोले, "तुम नहीं जानते, हम कौन हैं!"

"आप मनिस्टर भी हों, हमें तो अपनी मजदूरी लेनी है।" नौजवान हाँजी वहीं शिकारे के बलम से लगा बोला।

"हाँ-हाँ, लेना मजदूरी!" कहानी-लेखिका चिल्लायी, "चलो, ले चलो, वापस!"

लम्बे चेचकरू हाँजी ने मामले को समझलते हुए कहा, "बाज़ार तो यही है यहाँ! देखिए दोनों किनारों पर दुकानों के बोर्ड लगे हैं।"

"पुलों के आर-पार क्या है?"

"दुकानें हैं, योही-सी, आपके देखने वाली नहीं।"

"हम वही देखना चाहते हैं।"

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

“इस तरह बाज़ार देखने के लिए तो सारा दिन चाहिए।” युवा हॉजी बोला, “आपको तांगे पर आना चाहिए था।”

“तुम बीच में क्यों बोलते हो ? तुमसे बात नहीं हुई, तुम चुप रहो !” कहानी-लेखिका के पति चिल्लाये ।

“हमें सारे बाज़ार नहीं देखने, बस, एक-एक नज़र भर डालनी है । कुछ खरीद-फ़रोख़्त नहीं करनी ।” कहानी-लेखिका ने समझाया ।

“लेकिन बाज़ार तो शाह हमदान तक एक ही चला गया है बाद में इक्का-दुक्का दुकानें हैं ।” युवा हॉजी बोला ।

भीड़, गंदगी और निबिड़ता के डर से कहानी-लेखिका श्रीनगर के भीतरी भाग में कभी न गयी थी । वह यह न जानती थी कि जेहलम के साथ एक ही बाज़ार छूटे पुल तक चला गया है और जहाँ जो गली-मुहल्ला या घाट होता है, वहीं बाज़ार का वह नाम हो जाता है । उसका खयाल था कि अमीराकदल की हरिसिंह हाई स्ट्रीट की तरह शेष छः पुलों पर भी समानान्तर बाज़ार हैं । शिकारेवाला भूठ बोल रहा है और टाल रहा है, उसने यही समझा ।

“अच्छा, यह दुकान देख लीजिए, फिर अगले पुल पर बाज़ार दिखायेगा ।” लम्बे हॉजी ने कहा ।

इस बीच में गली के पहले मकान के अन्दर से भी एक आदमी निकल आया, जो उनसे ‘तशरीफ़ लाने’ का अनुरोध करने लगा । कहानी-लेखिका के पति ने भी कहा कि आये हैं तो देखते चलें । आखिर कहानी-लेखिका उठी ।

लेकिन दुकान दुकान नहीं पूरा एम्पोरियम था । अन्दर आँगन के एक कमरे में जाकर उस आदमी ने किसी से कुछ कहा और

हड़बड़ाये हुए गोरे रंग के एक सेठ चाबियों का गुच्छा लिये उन्हें ऊपर ले गये ।

आँगन पर भौकती हुई तंग-सी लम्बी गेलरी से होते हुए (जहाँ दीवार पर एक के बाद एक सर्टिफिकेट लगा था) वे एक बड़े हाल में पहुँचे । वहाँ चाँदी का सामान सजा था । कला के इतने सुन्दर और बहुमूल्य नमूने बड़ी सावधानी से मेजों और शेल्फों पर रखे थे कि उनकी आँखें खुली-की-खुली रह गयीं । फिर वह सेठ उन्हें दूसरे हाल में ले गया, जहाँ वुड-कट और पेपर मैशी का ऐसा सामान पड़ा था, जो सचमुच सरकारी एम्पोरियम में भी उपलब्ध न था । तीसरा हाल गालीचों से भरा था । नीचे फ़र्श पर एक ही गालीचा बिछा था । दीवारें गालीचों से ढँकी थीं और कोनों में गोल करके रखे हुए गालीचों के ढेर थे । चौथे कमरे में ऊन और सिल्क का सामान था, शाल-दोशाले, केप, ड्रेसिंग गाऊन, सिल्क के पलंगपोश, मेज़पोश, टी-सेट इत्यादि-इत्यादि

लेकिन इतनी सब सुन्दर और बहुमूल्य कला-कृतियों को देखकर कहानी-लेखिका बाहर आयी तो और भी चिढ़ी, दुखी और खीभी थी ।

*

हुआ यह कि इतनी सब अच्छी चीज़ों को देखकर उसका मन स्वयं भी कुछ लेने को हो आया । चाँदी की चीज़ों के शो-रूम में उसने एक छोटी-सी सुरमेदानी पसन्द की । उसके पति ने दाम पूछा तो मालूम हुआ, बीस रुपया है । तब उसने कहा, दूसरी चीज़ें देख लो, फिर इसकी बात करेंगे । वुड-कट और पेपर मैशी के कमरे में उसे एक छोटी-सी ट्रे और टायलेट-सेट रुचा । दाम आठ-आठ रुपये । पति ने

*** कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

उसके कान में कहा, बाँध और अमीराकदल की दुकानों पर दोनों चीजें साढ़े तीन-तीन रुपयों में मिल जायँगी। शालीचों वाले हाल में उसने एक छोटे से दरी जितने शालीचे का मोल पूछा। मालूम हुआ, डेढ़ सौ रुपया। शाल-दो-शालेवाले कमरे में उसे एक काली शाल पसन्द आयी, पर उसके पति ने कहा कि आज वह नोट ले ले, अभी चार पुल बाकी हैं और वह बाज़ार भी देखना चाहती है। और वे सेठ से फिर आने की बात कहकर बाहर निकल आये।

शिकारे में बैठे तो चौथे पुल को जाने के बदले वह सामने किनारे की ओर बढ़ा।

“उधर क्यों जा रहे हो?” वह चीखी।

“गेनेमेड भी देख लीजिए।”

“वह क्या है?”

“बुड-कट की दुकान और कारखाना है। वहाँ लकड़ी का सामान बनता है।”

“हमें नहीं देखना!” वह शिकारेवाले से बोली, फिर उसने अपने पति से कहा, “इन कम्बख्तों को कमीशन मिलता है। बाज़ार दिखाने के बदले दुकानों में ले आये हैं।”

“चलो, देख लें, कैसे कारीगर ऐसा बढ़िया, बारीक सामान बनाते हैं।” उसके पति बोले।

और शिकारा दूसरे किनारे जा लगा।

‘गेनेमेड’ में लकड़ी का सामान तो खिज़र मुहम्मदवालों से बढ़िया न था, पर वहाँ कारखाना उन्हें देखने को मिल गया। सीढ़ियों के दूसरी ओर एक बड़े-से खुले कमरे में कारीगर बैठे काम कर रहे थे। एक बूढ़ा कारीगर, जिसके सिर पर कई जगह बाल उड़ जाने से चकत्ते पड़

गये थे और खोपड़ी दिखायी देने लगी थी, आँखों पर चश्मा लगाये, एक बड़ी गोल मेज़ पर पतली सी सत्थी की सहायता से एक चीनी अजगर बना रहा था ।

“कितना वक्त लगेगा, तुम्हें इसे खत्म करने में !” पति बोले

“सत्तर दिन भी लग सकते हैं, अस्सी भी, नब्बे भी ।”

“कितने को बिकेगी !”

“तीन सौ में भी बिक सकती है, चार सौ में भी, पाँच सौ में भी, जितने को मालिक बेच सकें ।”

तीन सौ और पाँच सौ में दो सौ रुपये के अंतर पर कहानी-लेखिका के व्यापारी पति का ध्यान गया और मन-ही-मन उन्हें खेद हुआ कि इतनी आसानी से इतना मुनाफ़ा कमाया जा सकता है, पर उनके बस में वह सब कमाना नहीं । निमिष भर रुककर उन्होंने पूछा, “तुम्हें क्या मिलेगा !”

“डेढ़ रुपया रोज़ाना !”

दबी हुई साँस मुखर होकर उनके ओठों पर आ गयी । कितनी लागत और कितना लाभ ! फिर वे दूसरी ओर मुड़े ।

उधर तैयार हो चुकने वाली चीज़ों पर पालिश हो रहा था । वास्तव में पालिश तो हो चुका था । दो कारीगर कपड़े से मलकर उन्हें चमका रहे थे । उनकी अपनी कमीज़ें, शलवारें हाथ और मुँह लाल गेरुए-से हो रहे थे ।

तीसरी ओर लम्बी-लम्बी गर्दनें बढ़ाये उड़ते हुए सारस तैयार पड़े थे और एक आदमी उन पर पालिश कर रहा था । चारों ओर मैले-फटे कपड़े पहने, भूखे पंजर शरीर लिये, अपने जन्मजात गोरे रंग को मैल से ढँके कारीगर सौन्दर्य की सृष्टि कर रहे थे !....

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुत्र

लेकिन कमरे के मध्य तीन लकड़ियों एक-दूसरे के सहारे तिकान-सी बनाती खड़ी थीं, जिनके बीच एक काला-स्याह डिब्बा लटक रहा था। उसके नीचे लकड़ियों धुँधुआ रही थीं। डिब्बे में सरेश गर्म हो रहा था और सुलगती लकड़ियों से हल्का-सा कड़ुवा धुँआँ उठकर सारे कमरे में फैल रहा था। कहानी-लेखिका की आँखों से पानी बहने लगा। कुछ भी देखने लायक उसे वहाँ दिखायी न दिया। उसने बढ़कर अपने पति का हाथ पकड़ा और बोली, “अब चालिए भी, देर हो रही है।”

“मैंने सोचा, तुम नोट लोगी।” पति महोदय ने कहना चाहा।

“यहाँ क्या है ?” कहानी-लेखिका ने नाक-भौं चढ़ाते हुए कहा, “धुएँ के मारे आँखें लाल हो गयीं।”

और वह खींचती हुई अपने पति को बाहर सीढ़ियों तक ले गयी। उसका बच्चा दूसरे कमरे में चीज़ों को छेड़ रहा था। झोंटकर उसने उसे बुलाया और बाप-बेटा उसके पीछे सीढ़ियाँ उतरे।

वे जाकर शिकारे में बैठे तो कहानी-लेखिका इतनी खीझी, दुखी और चिढ़ी थी कि वह लेटी भी नहीं। घुटनों पर कोहनियाँ टिकाये, हाथों पर ठोड़ी रखे वह बैठी रही। तीसरे के बाद पुल दूर-दूर नहीं थे। चौथे पुल से पहले ही उसने शोर मचाना शुरू कर दिया कि शिकारा रोको, हमें बाज़ार देखना है और शिकारा पुल के पार एक तंग घाट पर रुक गया। बेहद तंग, गन्दी, सीली सीढ़ियों पर चढ़कर वे बाज़ार में आये। छोट-सा, लेकिन भरा-पूरा बाज़ार था। सामने ही समावार बिकते थे। कहानी-लेखिका वापस जाते समय एक समावार भी ले जाना चाहती थी। ताकि पिकनिकों पर या अचानक ज़रूरत पड़ जाने पर चाय बनाने में आसानी रहे। उसने भाव पूछा। बड़े

समावार सात रुपये सेर थे और छोटे, जिन पर कुछ काम भी था, आठ रुपये सेर ! लेकिन समावार तौबे के थे और उन पर कलई की गयी थी। उसने पति को आदेश दिया कि वे अमीराकदल इत्यादि में पूछें, यदि पीतल का न मिले तो यहाँ से एक तौबे ही का ले जायें।

उसके पति ने 'हाँ', 'ना' किसी तरह का उत्तर नहीं दिया। ऊँघते हुए-से वे उसके साथ बाज़ार के मोड़ तक गये। समावारवाले के अतिरिक्त, फलवाले, अज़ारबन्द और टोपियोंवाले, मोटा कपड़ा बेचनेवाले, पत्थर गढ़नेवाले, गिलट के गहने चाँदी के बताकर बेचनेवाले और ऐसे ही कुछ लोगों की दुकानें थीं।

वे पत्थरवाले और चाँदी के गहनोंवाले की दुकान पर रुके। पत्थरवाला लकड़ी की सान पर छोटे-से पत्थर को 'जिला दे रहा था। धोकर उसने उन्हें दिखाया। पत्थर में पत्ते के निशान थे। पूछने पर उसने पत्थर का एक टुकड़ा भी दिखाया, जिस पर बेल बनी थी। उसी को तार से काट और सान पर घिसकर वह नगीने बना रहा था। कई तरह के पत्थर उसने उन्हें दिखाये। कहानी-लेखिका ने पहली बार अपनी कापी पर कुछ ज़रूरी नोट लिये। लड़का आड़ुओं के लिए मचल रहा था। उसको उसने डाँट दिया। जब उसने एक नगीना खरीदने की इच्छा प्रकट की तो उसके पति ने अंग्रेज़ी में कहा कि ये लोग मोल ज़्यादा बताते हैं, भाव-ताव में बड़ी देर हो जायगी, अभी तीन पुल देखने को रहते हैं। यही बात उन्होंने गहनों वाली दुकान पर दोहरा दी। तब नोट लेना छोड़कर कहानी-लेखिका तिनतिनाती हुई वापस चल दी। पति बच्चे को फल लेकर देने के लिए रुक गये।

जब वे रस-भरे आड़ू खाते हुए वापस पहुँचे और उन्होंने उसे भी

*** कहानी लेखिका और जेहकम के सात पुल

पेश किये तो उसने एकदम इनकार कर दिया और चिल्लायी कि वे जल्दी बैठें कि यह सब 'बकवास' खत्म की जाय !

बाज़ार से ही पता चल गया था कि पाँचवें पुल पर कोई दुकान नहीं । इसलिए वह चुप रही ।

छठे पर वह उम्मीद कर रही थी कि हॉजी शिकारा रोकेगा, लेकिन जब काफ़ी दूर पार आकर भी वह नहीं रुका तो वह चिल्लायी ।

“हुज़ूर, यहाँ भी वैसी ही दुकानें हैं ।”

“वैसी ही हैं तो क्या, हम एक नज़र देखते ।”

“हुज़ूर, वैसी ही दुकानें हैं ।” शिकारे वाले ने फिर वही बात दोहरा दी और निरन्तर शिकारा चलाता रहा । कहानी-लेखिका भुनभुनाती रही और अंग्रेज़ी में गालियाँ देती रही ।

सातवें पुल के इधर दूर ही से शिकारे वाले ने कहा, “वह सातवाँ पुल है ।”

“इसके पार क्या है ?”

पार वीयर था, जो देखने ही की चीज़ है, पर वह चिढ़ा हुआ बोला, “पार कुछ नहीं, पानी खेतों को निकल जाता है ।”

“हम बाज़ार देखेंगे ।”

“वहाँ दुकानें नहीं !”

“हमने पूछा था, हैं ।”

“चलिए, दिखाता हूँ ।”

लेकिन आगे जाने के बदले उसने बायीं ओर नदी में निकलने वाले एक नाले में शिकारा मोड़ दिया । जब कहानी-लेखिका फिर चिल्लायी, तो फिर उसने वही वाक्य दोहरा दिया—“चलिए, दिखाता हूँ ।”

प्रकट ही उसकी वह सनक शिकारेवाले की समझ के बाहर थी ।

कहानी-लेखिका को जैसे बाज़ार देखने की जिद हो गयी थी। पति की कंजूसी, बच्चे की चंचलता, हॉजी की मूढ़ता, जैसे इस सब का गुस्सा वह अपनी वही रट लगाये जाने में निकाल रही थी।

किन्तु जब वे काफ़ी दूर निकल आये और ऊपर से छोटे-छोटे दो पुल भी गुज़रे गये, जिन पर कुछ दुकानें भी दिखायी दीं तो कहानी-लेखिका के क्रोध की सीमा न रही। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी। तब शिकारे वाले ने एक घाट पर शिकारा रोक दिया। वे एक तंग और गन्दे मार्ग से ऊपर चढ़े और एक बाज़ार में आ गये। बाज़ार में दो-एक दुकानें थीं। सामने एक टोपियोंवाले की दुकान थी, जिस पर बैठे एक युवक ने प्रकट शरारत से पूछा, “कहिए, बाबूजी, लेंगे कराकुली टोपी !” दो-एक टोपियों की और दुकानें थी, एक-आध करियाने और बेकरी वाले की और उसके बाद गली एकदम सुनसान थी।

कहानी-लेखिका ने पूछा, “यह सातवें पुल का बाज़ार है !” और एक दुकानदार से बाज़ार का नाम पूछा।

“नया बाज़ार।”

और वह चिल्लायी, “यह तुम हमें कहाँ ले आये हो !”

बड़े शांत स्वर से हॉजी ने उत्तर दिया कि बाज़ार में !

“पर हम सातवें पुल का बाज़ार देखना चाहते हैं।”

“वह भी ऐसा ही है। ऐसी ही दो-चार दुकानें हैं। और उसने सिर हिलाया कि किन सनकियों से पाला पड़ा है जो इतनी सी बात भी नहीं समझते।

लेकिन कहानी-लेखिका चिल्लायी, “हम यह बाज़ार नहीं देखना चाहते। हम वापस जायेंगे।”

●● कहानी लेखिका और बेइख़म के साथ पुनः

“शिकारा आगे गया है, इधर आइए ।” विवश हो उसने कहा और वह दायीं ओर को चला ।

एक सुनसान-से बाज़ार में, जिसमें कभी कभी कोई अंधी-चुंधी दुकान दिखायी दे जाती थी, वे दूर तक चलते गये । यहाँ तक कि कहानी-लेखिका के सत्र का पैमाना भर गया और वह चीखी, “शिकारा नहीं मिलता, तो हम तांगे पर जायेंगे ।”

बायीं ओर के एक मकान से लगा खुला सा बड़ा अहाता था, जिसके परे लगता था कि नाला है । शिकारेवाला उधर से शिकारा देखने गया ।

“इस हरामज़ादे को जूते मारने चाहिएँ ।” कहानी-लेखिका ने दाँत पीसते हुए कहा, “यह हमें चालाकी से वापस ले आया है ।”

“खैर, तुम गुस्सा न करो ।” उसके पति उसे सान्त्वना देते हुए बोले, “दो रुपये में इन्होंने फिर भी हमें बड़ी सैर करा दी है । परसों साढ़े तीन दिये थे और पौँचवें पुल तक भी न आये थे ।”

लेकिन कहानी-लेखिका भुनभुनाती रही । शिकारेवाले ने आकर बताया कि ज़रा और आगे जाना पड़ेगा । शिकारा आगे निकल गया है । और वह भागा ।

“इस हरामज़ादे के सौ जूते लगाने चाहिएँ !” कहानी-लेखिका ने फिर दाँत पीसकर अपने पति से कहा ।

कुछ और आगे जाकर वे बायीं ओर को मुड़े । नीचे नाले में लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठे बँधे पड़े थे । वहीं वह युवा शिकारेवाला ढोंगे के नम पर बैठे एक आदमी से बातें कर रहा था और दोनों हुक्का पीने में तल्लीन थे ।

वे जाकर शिकारे में बैठ गये । लेकिन युवा शिकारेवाला पूर्ववत्

